समीक्षायण

सम्पादक :
पं० अयोध्यानाथ शर्मा
डॉ० विश्वनाथ गौड़

समीक्षायण

जो महत्त्व भक्त कवियों में कबीर, जायसी, सूर और तुलसी का है वही आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का है और इसे हिन्दी आलोचना का सौभाग्य कहें या दुर्भाग्य, लेकिन यह तथ्य है कि आचार्य शुक्ल ने जायसी, सूर और तुलसी पर, आचार्य द्विवेदी ने कबीर पर तथा नन्ददुलारेजी ने सूर पर जो समीक्षात्मक निबन्ध लिख दिये हैं उनकी ऊँचाई तक, इन कवियों पर लिखे गये विपुल समीक्षा-साहित्य के बावजूद, कोई दूसरा समीक्षक नहीं पहुंच पाया है। इन आचार्यों की अद्भुत विवेचना-शक्ति, काव्य की गहरी समझ और सूक्ष्म दृष्टि के साथ ही साथ जीवन्त भाषा-शैली हिंदी-निबन्ध की अमूल्य निधि है—ऐसी निधि जिस पर किसी भी भाषा को गर्व हो सकता है।

(शेष दूसरे फ्लैप पर)

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

समीक्षायण

समीक्षायण

कबीर-जायसी-सूर-तुलसी पर आलोचनात्मक
निबन्धों का संग्रह

सम्पादक
अयोध्यानाथ शर्मा
विश्वनाथ गौड़
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बी० एस० एस० डी० कालिज, कानपुर

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

अनुक्रम

प्रवेशक	१
सन्तशिरोमणि कबीर	१५
व्यक्तित्व विश्लेषण : हजारीप्रसाद द्विवेदी	१६
उपसंहार „ „	३४
प्रेममार्गी सूफी कवि : मलिक मोहम्मद जायसी	४३
कवि द्वारा वस्तु-वर्णन : रामचन्द्र शुक्ल	४४
पात्र द्वारा भाव-व्यंजना: „ „	६०
कृष्णभक्ति शाखा के महान स्तम्भ : महाकवि सूरदास	७१
जीवनी और व्यक्तित्व : नन्ददुलारे वाजपेयी	७२
काव्य सौन्दर्य : „ „	९५
महान लोकनायक : गोस्वामी तुलसीदास	११३
प्रकृति और स्वभाव : रामचन्द्र शुक्ल	११४
भक्ति-पद्धति : „ „	१२०
लोकनीति और मर्यादावाद : „	१३०
शीलसाधना और भक्ति : „ „	१४२

प्रवेशक

हिन्दी के कुछ प्रमुख प्राचीन कवियों पर मूर्धन्य समालोचकों द्वारा लिखे हुए आलोचनात्मक निवन्धों का यह संकलन विश्वविद्यालय-स्तर की कक्षाओं के छात्रों के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका उद्देश्य एक ओर तो छात्रों को हिन्दी-गद्य की एक विशिष्ट शैली—आलोचनात्मक शैली—से परिचित कराना है और दूसरी ओर उनके समक्ष हिन्दी आलोचना के चूडान्त निदर्शन प्रस्तुत करना है। उच्च कक्षाओं में साहित्य के अध्ययन का प्रकार विशेष रूप से विवेचनात्मक अथवा आलोचनात्मक हो जाता है। अतः पाठ्य-विधि में आलोचनात्मक निवन्धों का समावेश, निश्चय ही, उनमें आलोचनात्मक दृष्टि का उन्मेष करेगा।

हिन्दी गद्य के विकास की कथा अनतिप्राचीन है। भारतीय संस्कृत वाङ्मय में गद्य का विकास बहुत पहले हो चुका था और उसकी अभिव्यंजन-क्षमता की परीक्षा साहित्य और शास्त्र-विवेचन दोनों क्षेत्रों में सफलतापूर्वक हो चुकी थी। भाषाओं के विकास के अनुक्रम में संयोग से हिन्दी का रूप ऐसे काल में सामने आया जब देश में परतन्त्रता की भूमिका बनने लग गई थी। हमारे इतिहास का मध्य-युग आक्रमणों और एकाकी संघर्षों का युग है। इन विषम परिस्थितियों में निश्चित और सुप्रतिष्ठित जीवन का जो अभाव रहा उसमें हमारी अनेक मूल्यवान साहित्यिक उपलब्धियों का परम्परागत अनुशीलन अवरुद्ध हो गया। इसी कारण संस्कृत के परिपुष्ट गद्य की परम्परा हिन्दी में न आ सकी। मध्ययुग में 'भाषा' के नाम से कुछ टीकापरक और कुछ वार्तापरक गद्य ही सामने आ सका जो सूक्ष्म-विवेचन और परिपुष्ट भाव-प्रकाशन की दृष्टि से अत्यन्त अक्षम था। अतः साहित्य के रंगमंच पर उसकी स्थिति नगण्य समझी जाती है। हिन्दी खड़ी बोली गद्य का विकास वास्तव में मुगल-शासन और अंग्रेज़ी शासन के संधि-काल में हुआ था। उर्दू के प्रसिद्ध कवि इंशाअल्लाखाँ ने हिन्दी गद्य लिखने की प्रतिज्ञा की

और 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्य में लिखी। परन्तु उनका गद्य उर्दू और फारसी के प्रभाव से अपने को बचा न सका और उनकी प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी। दूसरी ओर मुं० सदासुखलाल अपनी स्वतः प्रेरणा से हिन्दी गद्य का निर्माण कर रहे थे। अंग्रेज़ी शासकों ने शासन की सुविधा के लिए कलकत्ता फोर्ट-विलियम में भारतीय विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की। वहाँ के अध्यापकों, पं० सदल मिश्र और लल्लूजी लाल, ने हिन्दी गद्य की अपनी-अपनी बानगी प्रस्तुत की। इस प्रकार कुछ गद्य-शैलियाँ सामने आईं। इन सभी शैलियों में साहित्यिक परिष्कार का अभाव था। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने 'आम-फ़हम' भाषा लिखने की धुन में उर्दू और फारसी की क्लिष्ट शैली का नमूना पेश किया। उसी समय आगरे के राजा लक्ष्मणसिंह ने भी हिन्दी गद्य की एक शैली का प्रवर्तन किया; परन्तु वह भी स्थानीय प्रभावों से बच नहीं सकी। इसके अनन्तर इन सभी गद्य-शैलियों का परिष्कार करके हिन्दी गद्य को साहित्यिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का महनीय कार्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया। भारतेन्दु जी के अन्य सहयोगी लेखकों—जैसे पं० प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, ला० श्रीनिवास दास, पं० किशोरीदास गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन आदि—ने गद्य के विकास में पर्याप्त योग दिया। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य के विकास में बहुत बड़ी सेवा की। 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के माध्यम से उन्होंने हिन्दी गद्य का व्याकरण-सम्मत शुद्ध रूप विकसित किया और कितने ही लोगों को हिन्दी लिखना सिखाया। आचार्य द्विवेदीजी के द्वारा परिष्कृत किए हुए गद्य में अभिव्यंजन-क्षमता का पूर्ण विकास हुआ। और इसके पश्चात् हिन्दी गद्य अपनी पूरी सजधज के साथ चल निकला।

हिन्दी का आधुनिक-युग वस्तुतः गद्य का युग है। इस युग में गद्य के माध्यम से साहित्य की अनेक नवीन विधाओं का विकास हुआ है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास ने इस शताब्दी के आरम्भ में ही हिन्दी गद्य की प्रौढ़ और परिमार्जित शैली का विन्यास किया। इनके पश्चात् हिन्दी गद्य-क्षेत्र में अनेकानेक प्रतिष्ठित लेखक हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से साहित्य की श्रीवृद्धि की।

इस युग में हिन्दी का गद्य पर्याप्त प्रौढ़ता और उत्कर्ष को प्राप्त कर चुका

है। देश में अंग्रेज़ी शासन की प्रतिष्ठा के बाद पाश्चात्य साहित्य से हमारा जो परिचय हुआ उसका प्रभाव हमारे साहित्य पर खूब पड़ा है। हमारे साहित्य की नवीन विधाएँ अंग्रेज़ी साहित्य के अनुकरण पर विकसित हुई हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी का प्रभाव हमारी भाषा पर भी पड़ा है। हिन्दी काव्य की भाषा पर जो पश्चिमी प्रभाव पड़ा वह छायावादी काव्य से आरम्भ हुआ और छायावादोत्तर काव्य पर भी सामयिक परिवर्तन के साथ पड़ता रहा है। इसी दृष्टि से हिन्दी गद्य के रूप को भी विकास-क्रम में देखा जा सकता है। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने व्याकरण और विरामादि चिह्नों के समुचित प्रयोग द्वारा हिन्दी गद्य को अभिव्यक्ति का सौष्ठव प्रदान किया। उनकी गद्य-शैली में एक प्रकार की अभिव्यंजनात्मक वस्तु-निष्ठा थी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के बाद हिन्दी में छायावादी प्रवृत्तियों के उदित होने पर इस शैली की सूक्ष्मपरकता का प्रभाव हिन्दी गद्य पर भी पड़ा। छायावादी पद्धति में भाषा का नवीन संस्कार एक प्रमुख विशेषता के रूप में आया। लाक्षणिकता और प्रतीक योजना इस नवीन संस्कार के साधन रहे हैं। भाषा की शक्ति-सामर्थ्य का विवेचन करते हुए भारतीय आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के रूप में शब्दार्थ के तीन आयाम निश्चित किए हैं। इनमें से शास्त्र-निरूपण के लिए अभिधा को उपयुक्त बताया गया है तथा काव्य-गत चमत्कार की भूमि व्यंजना को माना गया है। लक्षणा के अपरिमेय वैभव को समुचित मान्यता नहीं मिल पाई। वस्तुत: लक्षणा ही भाषा के आर्थिक आयाम में अनन्त विस्तार करती है। अभिव्यंजना की अनेकरूपता और विदग्ध वाग्व्यवहार की चमत्कारपूर्ण रुचिरता लक्षणा से ही होती है। भारतीय आचार्यों की काव्य-विषयक दृष्टि काव्य के आत्म-पक्ष की ओर अधिक रही है। वहाँ उन्होंने ध्वनि और व्यंजना को ही प्राधान्य दिया है। यदि वे काव्य के कला-पक्ष में भाषा-तत्त्व पर भी ध्यान देते तो लक्षणा का अपलाप नहीं हो सकता था। काव्यशास्त्रियों ने लक्षणा के चमत्कारिक वैभव को ध्वनि के मानदण्ड से नापते हुए लाक्षणिक वैभव को गुणीभूत व्यंग्य कहा है। काव्येतरशास्त्राचार्यों का साहित्यशास्त्रियों के साथ लक्षणा और व्यंजना को लेकर बहुत अधिक शास्त्रार्थ चला है।

योरोपीय भाषाओं में लाक्षणिक वैभव अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होता हुआ अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है। छायावादी काल में हिन्दी गद्य ने

भी इसी लाक्षणिकता को स्वीकार किया। गद्य में लाक्षणिक प्रयोग की इस रुचि-रता की अवतारणा सरदार पूर्णसिंह ने की। अपने लेखों के आधार पर उन्होंने हिन्दी गद्य के अनुक्रम में ख्याति प्राप्त की। उसका रहस्य भाषा की लाक्षणिकता और वैचारिक नूतनता में, जो कि मानवतावादी विभिन्न पाश्चात्य दृष्टिकोणों के उपयोगी समन्वय पर आधारित है, निहित है। छायावाद की वृहच्चतुष्टयी—प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी तथा तदितर अन्य कवियों ने अपनी-अपनी विशेष काव्यगत शैलियों का प्रयोग अपने गद्य में भी किया। प्रसाद के नाटकों में छायावादी गद्य के रमणीय उदाहरण मिलते हैं। सूक्ष्म, वायवी, कल्पना-प्रसूत और लोकोत्तर छायावादी सामग्री के अतिशय प्रयोग के कारण उनके ये सम्वादात्मक गद्य-खण्ड नाटकों की अभिनेयता में वाधक भी वन गए हैं परन्तु उनका शैलीगत महत्त्व अपना निजी है। इसी प्रकार महादेवी का गद्य भी उनके संस्मरण आदि साहित्यिक निवन्धों को लक्षणा का रुचिर संस्पर्श देता रहा है। कहने का अभिप्राय यही है कि छायावादी युग में अंग्रेजी गद्य के अनु-करण पर हिन्दी गद्य का विकास नवीन लाक्षणिकता के आधार पर होने लगा। लाक्षणिक अर्थ-वैविध्य ने काव्य-क्षेत्र से वाहर भी भाषा की क्षमता को वढ़ाया और उसे अभिव्यक्ति की विविधता प्रदान की जिसके परिणाम-स्वरूप एक नई सांकेतिकता भाषा में आई। पद्धति और शैली-विधान की इस विदेशी प्रवृत्ति के साथ शव्द-प्रयोग तत्सम अथवा संस्कृतनिष्ठ होता गया है। विषय के अनुसार शैली-भेद की दिशा भी निश्चित होने लगी। कुछ प्रमुख छायावादी कवि, जैसे प्रसाद, पन्त और महादेवी, शैली-स्वरूप का पार्थक्य करने में सफलता नहीं प्राप्त कर सके और आलोचनात्मक गद्य में भी काव्यात्मक शैली का प्रयोग करते रहे। इस मार्गभेद के कारण तथ्य-निरूपण के परिणाम धूमिल और अस्पष्ट हो गए हैं।

निरन्तर प्रयोग के कारण हिन्दी गद्य की क्षमता में निखार होता रहा है। जन-जन के द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली जीवित भाषा अनेक प्रकार के समसाम-यिक प्रभावों को लेकर विकास के पथ पर आगे वढ़ती रहती है। वर्तमान युग में जल्दी-जल्दी घटित होने वाले सांस्कृतिक पार्श्व-परिवर्तन साहित्य को स्वाभाविक रूप से प्रभावित करते रहे हैं। छायावादी काल के बाद जो यथार्थवादी दृष्टिकोण सामने आया उसने साहित्य पर भी अपना प्रभाव डाला। श्री सुमित्रानन्दन

पन्त ने अपनी काव्य-भाषा को सम्वोधित करते हुए उसे जो नया रूप देने का निश्चय किया वह गद्य पर भी घटित हुआ। वह नया रूप इन पंक्तियों में है—

वाणी मेरी ! चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।
तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार ॥

धीरे-धीरे गद्य-शैली भी छायावादी एकान्तिकता के घेरे से बाहर निकल कर जनता के निकट आने लगी। राजनैतिक प्रभाव के कारण और हिन्दी को अखिल भारतीय विस्तार देने की योजना के अनुसार उर्दू, हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी के नमूने सीधे-सीधे गद्य में लिए जाने लगे। साहित्य की दृष्टि से हिन्दी गद्य में नए प्रकार की सांकेतिकता, भाव-प्रकाशन-शैलियाँ और भणिति-भंगिमाएँ आने लगीं। युद्ध के वाद की गद्य-साहित्य-विधाओं में प्रयुक्त भाषा वड़ी स्पप्टता के साथ इस तथ्य को प्रमाणित करती है।

स्वतन्त्र भारत में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का गौरव प्राप्त हो चुका है। हिन्दी को ज्ञान और विज्ञान की अनेक शाखाओं में विनिमय का माध्यम वनना है। अंग्रेज़ी का गद्य ज्ञान की अनेक शाखाओं में विश्व के वहुत वड़े भाग द्वारा लम्वे समय से प्रयुक्त होता रहा है और तदनुरूप विशिष्ट रूपों का विकास कर चुका है। सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर हिन्दी के विशाल कोष को वहु-विध ज्ञान-विज्ञान से भरा जा रहा है। स्वाभाविक रूप में तदनुरूप शैलियाँ रूढ़ हो रही हैं। शुद्ध साहित्यिक क्षेत्र से वाहर हिन्दी गद्य को अभी वहुत कुछ करना है। आज के वैज्ञानिक युग में विश्व इतना छोटा हो गया है कि कोई एक भाषा और साहित्य दूसरे प्रभावों से वचकर नहीं चल सकता। विश्व-संस्कृति का आदर्श लेकर चलने वालों को इसकी चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए। पर हाँ, यदि भाषा की अपनी परम्परागत प्रकृति की रक्षा करते हुए इन प्रभावों को पचाया जा सके तो अच्छा है। परिस्थितियों को देख कर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी गद्य का भविष्य पर्याप्त आशावादी एवं उज्ज्वल है।

[२]

आधुनिक पद्धति से किए जाने वाले अध्ययन की प्रकृति विवरणात्मक कम और विवेचनात्मक अधिक है। प्राचीन विधा में अध्ययन की सूक्ष्मेक्षिका ग्रन्थों की

गहराई में प्रवेश करती थी पर आजकल की विवेचनात्मक दृष्टि सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में व्याप्त होकर तुलना और इतिहास के पैरों से अपनी मंजिल तै करती है। इस प्रवृत्ति के कारण प्रायः प्रत्येक शास्त्र में आलोचना का प्रचार-प्रसार आज के युग में वहुत अधिक हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में यह सत्य और भी अधिक लागू हुआ है। वस्तुतः वात है भी ठीक; साहित्य यदि जीवन का दर्शन है तो आलोचना वह दृष्टि है जिसके विना साहित्य में चित्रित वहुविध जीवन-पटलों को देख सकना संभव नहीं। इसी कारण क्रान्तदर्शी आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने ध्वन्यालोक पर लिखी हुई अपनी प्रसिद्ध व्याख्यात्मक आलोचना को 'लोचन' नाम से अभिहित किया। आलोचना शब्द भी लोचन की भाँति ही, जिसका अर्थ देखने वाली इन्द्रिय है, 'लुच्' धातु से वना है और इसका अर्थ 'आ-समन्तात्—चारों ओर से—अखिल परिप्रेक्ष्य में—देखने का काम' है। मनुष्य में अपनी अनुभूतियों को दूसरों को वताने की सहज प्रवृत्ति है। इसी के कारण वह आरंभ से ही साहित्य को 'देखकर' दूसरों को भी 'दिखाने' का प्रयत्न करता रहा है और इस प्रकार आलोचना साहित्य के साथ जन्म लेकर उसके समानान्तर चलती रही है। आलोचना के ये प्रयास सांस्कृतिक उपलब्धियों के साथ विशद, सूक्ष्म-ग्राही और व्यापक होते रहे हैं। आलोचना की प्रवृत्ति ज्यों-ज्यों वढ़ने लगी त्यों-त्यों आलोचना के सिद्धान्त, नियम-उपनियम आदि, भी स्थिर किए जाने लगे और साहित्य या काव्य के शास्त्र का संघटन होने लगा। भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र इसी प्रकार का प्रथम भारतीय प्रयास है। शास्त्र-निरूपण करने वाले आचार्यों की यह परम्परा आज भी अक्षुण्ण चली आ रही है। धीरे-धीरे इन सिद्धान्तों के निकप पर साहित्य की परख और व्याख्या होने लगी। इसके साथ ही कृतियों का मूल्य-निर्धारण किया जाने लगा और उनके सम्वन्ध में कुछ विशिष्ट निर्णय लिए जाने लगे। 'निर्णय' या मूल्य-निर्धारण की दिशा में चलते हुए अन्य कृतियों के साथ उनकी तुलना भी की जाने लगी। कुछ परम भावुक हृदय इन स्थूल नियमों और वाह्य उपकरणों की परवाह न करके किसी कृति के द्वारा अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का भावात्मक वर्णन करने लगे। इस प्रकार आलोचना के चार प्रमुख रूप स्थिर हुए जो इस प्रकार हैं—

१. सैद्धान्तिक आलोचना

२. व्याख्यात्मक आलोचना

३. निर्णयात्मक आलोचना

४. प्रभाववादी आलोचना

तुलनात्मक आलोचना निर्णयात्मक आलोचना का ही एक विशिष्ट रूप है। प्रभाववादी आलोचना स्वयं में एक प्रकार का रचनात्मक काव्य ही है। सिद्धान्त-निरूपण, व्याख्या और निर्णय के प्रयास बराबर प्रगति करते हुए चले आ रहे हैं और इनकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा व्यष्टि से समष्टि की ओर रही है। व्यक्तिगत रचनाओं के बहिरंग गुण-दोष-निरूपण से आरम्भ करके हम आज साहित्य के इतिहास तक पहुँच गए हैं। साहित्य का इतिहास वस्तुतः आलोचना का वह रूप है जिसमें समष्टि-रूप से रचना-प्रपंच का परीक्षण न केवल सम-सामयिक परिवेश में अपितु काल-क्रमानुसार परिवर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया जाता है। हमारी आलोचना प्रक्रिया इतिहास के निर्माण की दिशा में पर्याप्त उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी है। आज प्रत्येक साहित्य में योग्य विद्वानों द्वारा उसके इतिहास प्रस्तुत किए जा रहे हैं और इतिहास के माध्यम से आलोचना की प्रतिष्ठा व्यापक आधार पर हो रही है। तुलनात्मक आलोचना की ओर भी इस युग में पर्याप्त ध्यान दिया गया है। विज्ञान के विकास के साथ विश्व के दूरस्थ भागों में निकटता आई है और पारस्परिक सम्पर्क बढ़े हैं। आज केवल एक साहित्य को जानने वाले व्यक्ति को साहित्य-वेत्ता मानने में आपत्ति की जाने लगी है। इस परिस्थिति ने तुलना के लिए मार्ग प्रशस्त किया है और साहित्य की व्यक्तिगत तथा समष्टिगत तुलना खूब हो रही है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक प्रकार की मनोवैज्ञानिक आलोचना का आरम्भ आधुनिक युग में ही हुआ है। सैद्धान्तिक आलोचना का हमारे यहाँ अभाव नहीं रहा है। संस्कृत साहित्य ने इस दिशा में बहुत बड़ी उपलब्धियाँ हस्तगत की हैं। रीतिकाल के आरंभवाली हिन्दी लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में प्राचीन संस्कृत काव्य-शास्त्र की उद्धरणी हुई है। व्याख्या और निर्णय की दिशा में संस्कृत और हिन्दी दोनों क्षेत्रों में काव्य-मर्मज्ञों की दृष्टि सामान्य गुण-दोष निरूपण तक ही सीमित चली आ रही है। 'उपमा कालिदासस्य' 'भारवेरर्थगौरवम्' 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' आदि उक्तियाँ संस्कृत साहित्य के इसी आलोचना-स्तर को प्रकट करती हैं। हिन्दी में भी इसी प्रकार 'सूर सूर तुलसी ससी', 'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार', 'सतसैया के दोहरा ज्यों नाविक के तीर' आदि उक्तियाँ

हिन्दी आलोचना के इसी रूप को प्रकट करती हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में, अन्य नवीन साहित्यिक विधाओं की तरह, आलोचना का भी सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों में से चौधरी बदरीनारायण ने इस दिशा में विशेष कार्य किया। वे 'आनन्द कादम्बिनी' नाम से एक पत्रिका निकाला करते थे जिसमें साहित्यानुशीलन की विविध विधाओं में आलोचना के लिए भी पर्याप्त स्थान निर्धारित किया गया था। इस पत्रिका की सामग्री आलंकारिक शैली में विशेषतया रूपक अलंकार के माध्यम से प्रकाशित की जाती थी। इस समय तक देश में धीरे-धीरे नवजागरण की चेतना व्याप्त हो चुकी थी। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही थीं। इन पत्रिकाओं में अन्य विषयों के साथ-साथ आलोचनात्मक सामग्री भी रहती थी। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य का प्रचार-प्रसार पूरी जागरूकता के साथ कर रहे थे। इसके साथ ही वे एक सतत सावधान प्रहरी की भाँति साहित्य की रक्षा भी किया करते थे। अवाञ्छित, अनर्गल और स्तर-हीन सामग्री पर वे उग्रता से प्रहार किया करते थे। इस प्रकार सरस्वती में आलोचना और प्रत्यालोचना की एक धारा प्रवाहित हो चली थी। आचार्य द्विवेदी स्वयं ही प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य की परिचयात्मक आलोचना प्रकाशित किया करते थे। 'नैषधचरितचर्चा' 'कालिदास की निरंकुशता', आदि उनके द्वारा लिखी हुई इसी प्रकार की आलोचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त सरस्वती में द्विवेदीजी के अनेक फुटकर लेख छपते रहते थे जिनमें साहित्यिक सामग्री, कवि-समय-सिद्धियों और प्रौढ़ोक्तियों का विवेचनात्मक परिचय रहता था।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में वह युग अत्यन्त ज़िन्दादिली का युग था। सामान्य छोटे-वड़े की सामाजिक मान्यता, मर्यादा और अनुशासन में जन-समाज की आस्था यथावत् थी। आचार्य द्विवेदी तथा उनके समकक्ष अन्य गुरुजन साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में अपने कठोर वाङ्मय कशाघातों से किसी को भी छोड़ते नहीं थे। शिष्ट साहित्यिक प्रकार की डाँट-फटकार, आक्षेप-प्रत्याक्षेप, साहित्यिक गाली-गलौज की मनोरम छटा दर्शनीय होती थी। 'कालिदास की निरंकुशता' में आचार्य द्विवेदी ने कालिदास पर कठोर प्रहार किए। उनका उत्तर 'निरंकुशता-निदर्शन' में पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने उसी शैली में दिया। द्विवेदीजी ने एक वार 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग कर दिया। फिर क्या

था। आलोचक-गण इस प्रयोग की असाधुता, च्युत-संस्कृतित्व, व्याकरण-विमुखता पर इस बुरी तरह टूट पड़े कि आचार्य द्विवेदी को उत्तर देना कठिन हो गया। अन्त में बहुत खीझ कर उन्होंने 'कल्लू अल्हैत' के नाम से एक आल्हा लिखा। इस प्रकार की तत्कालीन ज़िन्दादिली की छटा आज के अराजकतापूर्ण युग में बहुत ही आह्लादकारिणी एवं मनोरम प्रतीत होती है।

इस सम्पूर्ण प्रसंग में आलोचना का प्रचार-प्रसार तो खूब हुआ, परन्तु आलोचना का यह सम्पूर्ण प्रकार गुण-दोष निरूपण की सामान्य पद्धति से आगे बढ़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। आलोचकों की दृष्टि नितान्त बहिरंग और स्थूलस्पर्शिनी ही रही। इस परम्परा-पटल को तोड़कर आगे आने के लिए एक और प्रतिभा सज्जित हो रही थी। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के रूप में इस प्रतिभा ने हिन्दी-साहित्य के विशाल रंगमंच पर अवतरण किया। अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य शुक्ल ने इस आलोचना-क्रान्ति का वर्णन शालीनता के कारण केवल इतना कहकर ही किया है कि "इस तृतीय उत्थान में आलोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष-कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषता के अन्वेषण और अन्तः प्रकृति की छानछीन की ओर भी ध्यान दिया गया।" आचार्य शुक्ल ने शालीनता के कारण इस आदर्श-परिवर्तन-रूपी कार्य के कर्तृत्व का सम्बन्ध अपने से स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा। वस्तुतः इस कार्य का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने जायसी, सूर और तुलसी की विस्तृत समालोचना इसी नवीन शैली में की जो क्रमशः जायसी-ग्रन्थावली, भ्रमर-गीत-सार और तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुई। इन आलोचनाओं में आचार्य शुक्ल ने आलोच्य कवियों की अन्तःप्रकृति का पूर्ण विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार पर अत्यन्त विशद रूप में किया है। व्यक्तिगत कवियों की आलोचना के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने अखिल हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करते हुए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का ऐतिहासिक प्रणयन किया जो मूलरूप से काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विशाल-काय कोश-ग्रन्थ 'हिन्दी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ था। आचार्य शुक्ल का यह प्रयास अत्यन्त मौलिक और नवीन है। इसमें पूरे हिन्दी साहित्य का काल विभाजन, प्रवृत्तियों और धाराओं का विवेचन तथा अन्तर्वर्ती कवियों की आलोचना अत्यन्त परिमार्जित रूप में

साधिकार की गई है। आचार्य शुक्ल एक उत्कृष्ट आलोचक के सभी गुणों से संम्पन्न विद्वान् थे। वे लोक-जीवन और व्यवहार से तटस्थ रहकर साहित्य के अध्ययन में तल्लीन रहते थे। उनमें प्रतिभा, सूक्ष्मेक्षिका और पैनी पकड़ का ऐसा सामंजस्य था कि वे किसी भी अध्येय वस्तु के विस्तार-प्रपंच में पैठकर सरलतापूर्वक उसके मर्म को ग्रहण कर लेते थे और अच्छे से अच्छे रूप में उसका प्रकाशन किया करते थे। अंग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी के काव्य-शास्त्र का अध्ययन उन्होंने इसी प्रकार करके उनके मर्म को आत्मसात् कर लिया था। आचार्य शुक्ल की जीवन-दृष्टि और काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-दर्शन, मर्यादावाद और रामचरितमानस पर आधारित थे। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल मौलिक-उद्‌भावना-शक्ति से सम्पन्न स्वतन्त्र विचारक थे। काव्यशास्त्र सम्वन्धी अनेक विषयों पर—जैसे काव्य का स्वरूप निरूपण, साधारणीकरण, काव्य के द्वारा लोक-मंगल की साधना, रस-वोध के विविध रूप, स्वभावोक्ति अलंकार, शव्द शक्ति—आचार्य शुक्ल ने अत्यन्त गम्भीरता, विद्वत्ता, सोपपत्तिकता के साथ आत्म-विश्वास और अधिकारपूर्वक अपने मौलिक और स्वतन्त्र विचार प्रकट किए हैं। काव्य के मौलिक उपकरणभूत मनोभावों का विश्लेषण और स्वरूप निरूपण काव्य के सन्दर्भ में अत्यन्त योग्यतापूर्वक किया है। आचार्य शुक्ल के ये निवन्ध हिन्दी की अनुपम निधि हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुक्रम में पण्डितराज जगन्नाथ के वाद आचार्य शुक्ल ही एक स्वतन्त्र विचारक के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

आचार्य शुक्लजी वहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न प्रतिभाशाली विद्वान् थे। आलोचना और निवन्ध उनके मुख्य विषय थे। कहानी और कविता के क्षेत्र में इनकी प्रतिभा का निदर्शन मिला है। गद्य-शैलीकार के रूप में भी उनका स्थान महत्वपूर्ण है। विषय की गुरुता के अनुरूप ही उनकी गद्य-शैली अपना रूप-विधान करती है। आरंभ में वे किसी वात को सूत्र-रूप में समास शैली में कहते हैं। फिर उसी का विश्लेषण और स्पष्टीकरण करते हैं। भाषा में संस्कृत के तत्सम शव्दों का वाहुल्य रहता है। संस्कृत के शव्द अपने मौलिक शुद्ध रूप में प्रयोग किए जाते हैं; जैसे अभिलाष, साहाय्य आदि। गम्भीरता के बोझिल आटोप में व्यंग्य विनोद की मीठी पर चुभनेवाली चुटकियाँ एक ओर तो मन में विचित्र आनन्द पैदा करती हैं और दूसरी ओर उनके शुष्क और नीरस प्रतीत

होने वाले गुरु-गम्भीर व्यक्तित्व के साथ मेल न खाकर वैषम्य का आश्चर्य-मिश्रित आनन्द उत्पन्न करती हैं। ऐसे ही प्रसंगों में उर्दू-फारसी के शब्द भी विशेष प्रयोजन में बँधकर आते दिखाई देते हैं। शुक्लजी अत्यन्त भावुक हृदय थे। उनकी रचनाओं में सर्वत्र उनका भावुक हृदय रमता दिखाई दे जाता है। व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों दृष्टियों से वे सर्वथा अद्वितीय और मौलिक थे। हिन्दी को उन पर गर्व है। अहम्मन्य एवं पण्डितम्मन्य हिन्दीतर साहित्य-सेवियों के समक्ष आचार्य शुक्ल सफलतापूर्वक प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत की हुई पद्धति एकदम चल निकली। अच्छे-अच्छे विद्वान् साहित्यसेवी इस ओर अग्रसर हुए। हिन्दी के प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों की आलोचना इसी पद्धति पर होने लगी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य शुक्ल तथा उनके सहयोगियों के विशाल समुदाय में अनेक सुयोग्य आलोचक निकले। स्व० पं० नन्ददुलारे वाजपेयी भी इसी समुदाय के व्यक्ति रहे हैं। इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की और अपना सम्पूर्ण जीवन अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन कार्य में ही व्यतीत किया। आधुनिक आलोचकों में आचार्य वाजपेयी का महत्वपूर्ण स्थान है। निरन्तर अभ्यास के कारण वाजपेयी जी की लेखन-शैली में एक विशेष प्रकार की प्रौढ़ि, परिष्कार और परिपक्वता आ गई थी। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन और पाठालोचन में भी इन्हें दक्षता प्राप्त थी। साहित्य के अनुशीलन और आलोचन में आचार्य द्विवेदीजी की पकड़ और दृष्टि बड़ी पैनी थी। काव्य-कृतियों को देखकर वे बड़ा सही और सटीक आलोचनात्मक मत प्रकट किया करते थे। आधुनिक साहित्य की विधाओं, प्रवृत्तियों और धाराओं का सूक्ष्म अध्ययन आचार्य वाजपेयी ने किया था। 'बीसवीं शताब्दी—हिन्दी साहित्य' नामक उनके ग्रन्थ में आज के साहित्य पर मौलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण विचार किया गया है।

दृष्टि की मौलिकता और पकड़ की उपयुक्तता आचार्य वाजपेयी की आलोचना के विशेष गुण हैं। उनके द्वारा प्रकट किए हुए साहित्यिक एवं आलोचनात्मक मत अत्यन्त मूल्यवान, गरिष्ठ और प्रामाणिक होते थे। इसी कारण आज के मूर्धन्य और कृती साहित्यकार उनका लोहा मानते और सभी सम्मान किया करते थे। उनके द्वारा लिखित सूर की आलोचना में उनकी पकड़ की उपयुक्तता और

दृष्टि की मौलिकता अत्यन्त स्पष्ट है। आचार्य शुक्ल द्वारा सूर की आलोचना की जा चुकने के बाद वहाँ कुछ नई बात कहने की गुंजाइश आपाततः नहीं दिखाई देती। पर आचार्य वाजपेयी की मौलिक उद्भावना ने संकलित अवतरण में सूर पर एक नई दृष्टि दी है और इसी कारण यह आलोचना पिष्ट-पेषण होने से बच गई है। उनकी शैली गुरु-गम्भीर और तत्सम-शब्द प्रधान है। विषय के निरूपण की प्रांजलता और स्पष्टता इनकी शैली के विशेष गुण हैं। खेद है कि आचार्य वाजपेयी का निधन कुछ जल्दी हो गया अन्यथा उनसे साहित्य को अभी बड़ी आशाएँ थीं।

हिन्दी के वर्तमान आलोचकों में आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने ढंग के विशिष्ट और महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। इन्होंने अपने कृतित्व से सिद्ध कर दिया है कि सच्ची प्रज्ञा और प्रतिभा को उत्पन्न करने का एकमात्र श्रेय वर्तमान विश्वविद्यालयीय शिक्षा-क्रम को ही नहीं है। संस्कृत शास्त्रों की शिक्षा प्राचीन पद्धति से प्राप्त करने के उपरान्त शान्ति-निकेतन में रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। वहाँ कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आचार्य क्षितिमोहन सेन सरीखे कृती महारथियों के सत्संग ने इनमें आधुनिक दृष्टि का उन्मेष किया। वहाँ के वातावरण के अनुरूप इन्हें कबीर को केन्द्र मानकर आगे और पीछे के निर्गुण साधना वाले साहित्य का अनुशीलन करने का पर्याप्त अवसर मिला। तन्त्र और योग साहित्य का आचार्य द्विवेदी ने अच्छा ज्ञान अर्जित किया। मध्यकालीन, बौद्धों, नाथपंथियों, कापालिकों, अघोरियों, तान्त्रिकों, शाक्तों, योगियों और अन्यान्य मतमतान्तरों के साहित्य और प्रक्रिया की जो महती ज्ञानराशि आचार्य द्विवेदी ने संकलित की उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति इनके 'चारु-चन्द्रलेख' उपन्यास में हुई है। इस समस्त निर्गुण परम्परा में सन्त-शिरोमणि कबीर एक केन्द्र-बिन्दु की भाँति हैं। उन्होंने समस्त पूर्ववर्त्ती उपलब्धियों को योग्यता के साथ आत्मसात् किया और समुचित मात्रा में उनका समन्वय करके, भविष्य के लिए एक ऐसे मार्ग का निर्धारण किया कि जो आज भी अपनी आभा को अमन्द किए हुए चल रहा है। उन्होंने सगुणोपासकों के दाशरथी राम को निर्गुण का सहारा लेकर जन-जन में, घर-घर में, मन-मन में रमा दिया। कबीर के सन्देश-वाहकों की पीढ़ियाँ आज भी कबीर के दिव्य-सन्देश का प्रचार करती दिखाई देती हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपने शान्ति-निकेतन-काल में कबीर की जो यह महिमामयी झाँकी

देखी उसका परिणाम उनकी 'कवीर' पुस्तक है। इसमें यौगिक अन्त:साधना के परिवेश में कवीर का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषय पर लेखक का अधिकार है। तथ्य-निरूपण की शैली विषयानुरूप गुरु-गम्भीर होते हुए भी प्रांजल, विशद और स्पष्ट है। यहाँ संकलित प्रथम भाग 'व्यक्तित्व-विश्लेषण' में कवीर की अन्त:प्रकृति की छानवीन वड़ी योग्यता से की गई है। द्वितीय भाग में समस्त उपलब्धियों का संकलन करते हुए कथ्य का उपसंहार दिया गया है।

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों की व्याख्या, आलोचना और प्रस्तुतीकरण में आचार्य द्विवेदी को विशेष कुशलता और अधिकार प्राप्त है। अपने कृतित्व से आज इन्होंने अपना स्थान चोटी के साहित्यकारों में वना लिया है। 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' इनकी अन्य प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृति है। वौद्धों, सिद्धों और नाथपंथियों के सम्प्रदाय में प्रचलित साधना-पद्धति को लेकर भी इन्होंने आलोचनात्मक ग्रंथ प्रस्तुत किए हैं। संस्कृत के एक अच्छे विद्वान् होने के कारण इनकी भाषा-शैली तत्सम-वहुला है। उसमें एक प्रवाह और प्रांजलता है। वीच-वीच में रचनात्मक प्रतिभा से प्रसूत काव्योचित परिकल्पनाओं के रमणीय पुट भी मिलते हैं। इस गुण का पूर्ण प्रसार इनके ललित निवन्धों में है। वस्तुत: ललित निवन्धों कीं परम्परा को आज द्विवेदीजी ने वहुत वल दिया है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में 'ललित-तत्त्व' नामक इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। आचार्य द्विवेदी से हमें साहित्य क्षेत्र में बड़ी आशाएँ हैं।

आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रवर्तित हिन्दी आलोचना समृद्धि की ऊँचाइयों पर पहुँची है। अनेक विद्वान् समालोचकों ने इसकी श्रीवृद्धि में योग दिया है। समय-समय पर साहित्य में आनेवाली नवीन विचारधाराओं और प्रवृत्तियों के जो आन्दोलन रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में चले हैं उन्होंने आलोचना को भी प्रभावित किया है और अपने वैचारिक आदर्शों के अनुरूप आलोचना कें मान वनाने की चेष्टा की है। छायावाद और उससे भी अधिक प्रगतिवादी साहित्य में ऐसा ही हुआ है। मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत साम्यवादी आदर्श को सामने रखकर प्रगतिवादी आलोचना चली। फ्रायड के काम-वासना सम्वन्धी आदर्शों तथा मनोविश्लेषण की पद्धति ने साहित्य के साथ-साथ आलोचना के मानदण्ड को भी अपने अनुसार ढालने का प्रयत्न किया है।

आलोचना आज हमारे साहित्य की एक बद्ध-मूल और परिनिष्ठित विधा हो गई है। आज का बुद्धि-प्रवण मानव प्रायः सभी क्षेत्रों में अधिकाधिक आलोचनात्मक हो रहा है। विशेष प्रकार के साम्प्रदायिक विचार भी आलोचना की तटस्थता को भंग करते रहे हैं। शुद्ध, स्वस्थ और निष्पक्ष आलोचना आज दुर्लभ होती जा रही है। आलोचना का भविष्य महान है। पर उसकी निष्पक्षता और तटस्थता की रक्षा करना आवश्यक है। इन दुराग्रहों के कारण हिन्दी आलोचना आचार्य शुक्ल से अभी आगे नहीं बढ़ पाई है। पर हमें विश्वास है कि इन साम्प्रदायिक आटोपों से बचकर शुद्ध समालोचना का पथ प्रशस्त होता रहेगा।

सन्त-शिरोमणि

कबीर

सन्त-शिरोमणि कबीर हिन्दी-साहित्य की ज्ञानाश्रयी निर्गुण धारा के प्रवर्तक एवं महान् स्तम्भ हैं। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है। केवल इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये सिकन्दर लोदी के शासन काल (१५१७ ई० से १५२६ ई० तक) में वर्तमान थे। कबीरपन्थियों के अनुसार इनका जन्म सन् १३९९ ई० में हुआ था और मृत्यु सन् १४९५ में मगहर में हुई थी।

किम्वदन्तियों से ज्ञात होता है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। वह जन्म के उपरान्त ही, लोकापवाद के भय से इन्हें वाराणसी के लहरतारा तालाब के तट पर छोड़ गई थी। नीरू और नीमा नामक एक सन्तानहीन जुलाहा-दम्पती ने वहाँ से इन्हें उठा लिया और पुत्रवत् इनका पालन-पोषण किया। ये भी यावज्जीवन उसी परिवार, जाति और व्यवसाय में रहे। जल में पद्म-पत्र की तरह सांसारिक कार्यों में निर्लिप्त भाव से रहकर इन्होंने साधना का मार्ग अपनाया और उच्चकोटि के महात्मा हुए। स्वामी रामानन्दजी को इन्होंने अपना गुरु बनाया।

कबीर एक महान् लोकनायक थे जिन्होंने ठीक आवश्यकता के समय जन्म लेकर देश के सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन में सफल नेतृत्व दिया। साखी, रमैनी, बीजक इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनकी मृत्यु के उपरान्त हिन्दू और मुसलमान इनकी अन्त्येष्टि करने के लिए आपस में लड़ने लगे। पर, कहा जाता है, कि जब इनका शवाच्छादन हटा कर देखा गया तो केवल थोड़े से पुष्प ही मिले, शव नहीं। इन पुष्पों को दोनों ने आपस में बाँट लिया और अपने-अपने प्रकार से उनका अन्तिम संस्कार किया।

कबीरदास का व्यक्तित्व-विश्लेषण

—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एक के लिए समाज की ऊँच-नीच-भावना मजाक और आक्रमण का विषय थी, दूसरे के लिए मर्यादा और स्फूर्ति का। और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओं को अन्याय समझकर भी व्यक्ति को सबके ऊपर रखता था, वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चता का अधिकारी होकर भी अपने को 'तृणादपि सुनीचेन' (तृण से भी गया-गुजरा) समझता था। योगी डटकर जाति-भेद पर आघात करता था, बाह्याचार और तन्मूलक श्रेष्ठता को फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग-मार्ग का प्रत्येक अनुयायी अपने को समाज के अन्य निकृष्ट जीवों से श्रेष्ठ समझता था, दूसरों की बहिर्मुखी वृत्ति पर तरस खाता था, नाना प्रकार की पेंचीदी बातों से उसका मजाक बनाता था और आशा करता था कि लोग उसके अचरज-करिश्मे देखकर दाँतों-तले उँगली दबा लें। भक्त जाति-भेद, वर्णाश्रम-व्यवस्था और ऊँच-नीच मर्यादा को शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपने को भवसागर में भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप-भावना के लिए बार-बार पश्चात्ताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान् उसके हार्दिक अनुताप को जरूर सुन लेंगे और भवबन्धन से मुक्त कर देंगे। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा; एक के लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था और दूसरे के लिए समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था, दूसरा भक्त।

साधारण जनता में इन दोनों से दो प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। एक ने

श्रद्धालु गृहस्थ के चित्त में शंका का भाव पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि माया विकराल है, इससे छुटकारा पाना कठिन है, सिद्धि का मार्ग विघ्न-संकुल है। योग-क्रिया-हीन व्यक्ति की न जाने कौन-सी दुर्गति होगी, चौरासी लाख योनियों में न जाने वह कब तक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, साधन-मार्ग दुरधिगम्य हैं, विघ्नों की वाहिनी रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे (भक्त) ने उसे लापरवाह बना दिया। गलती से भी एक बार हरि-नाम जिसने ले लिया उसे कुछ और करने की जरूरत नहीं, विष्णु का तिलक एक बार अगर सिर पर चढ़ गया तो वैकुण्ठ का दरवाजा खुला है, तुलसी की माला यदि किसी प्रकार मिल गई तो गोलोक में स्थान निश्चित है। कलियुग सब युगों से अच्छा है, क्योंकि इसमें मानस-पाप का कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस-पुण्य का पूरा फल मिलता है। राम का नाम राम से भी बड़ा है, भय की कोई जरूरत नहीं। योग ने गृहस्थ को जरूरत से ज्यादा संशयालु बना दिया था, भक्ति ने पूरा आशावादी। एक ने मुक्ति को महँगा सौदा बना दिया, दूसरे ने बहुत सस्ता। योग में गलदश्रु भावुकता को कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद-पद पर भक्त को कम्प, आवेग, जड़ता और रोमोद्गम की अवस्था में ले आ देती है वह इस क्षेत्र में अपरिचित थी। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प-विकल्प बेकार हैं, संसार मृगमरीचिका है, परमतत्त्व विभाग और अविभाग से परे है, सूक्ष्म और स्थूल के अतीत है—यदि वह एक-रस है, सम-रस है, तो फिर रोने से होता क्या है? अखण्ड-चैतन्य-स्वरूप अमायिक परमपुरुष के सामने यह विलाप क्यों? उस गुण-हीन, विकार-हीन, दया-माया-हीन की पूजा क्या और स्तुति क्या।[1] निर्ममता और अमायिकता

---

१. अविवेक-विवेक-विबोध इति, अविकल्प-विकल्प विबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति, किमु रोदिषि मानस-सर्वसमः॥
बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यते, वियदादिरयं मृगतोयसमः।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमः किमु रोदिषि मानस-सर्वसमः॥
सविभक्ति-विभक्तिविहीन परम्, अनुकाय-विकाय-विहीन परम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवः यजनं च कथं स्तवनं च कथम्॥
—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में अवधूत-
गीता के वचन, पृ० २५

योग की पहली शर्त है। इसीलिए वह अपने अनुयायी को अक्खड़ बना देता है। कबीरदास ने यह अक्खड़ता योगियों से विरासत में पाई थी। संसार में भटकते हुए जीवों को देखकर करुणा के अश्रु से वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लाद की भाँति सर्वजगत् के पाप को अपने ऊपर ले लेने की वाञ्छा से ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर, और भी शुष्क होकर सुरत और निरत का उपदेश देते थे। संसार में भरमने वालों पर दया कैसी, मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होने वालों को आराम कहाँ, करम की रेख पर मेख न मार सका तो सन्त कैसा—

ज्ञान का गेंद कर सुर्त का डंड कर
खेल चौगान-मैदान माँहीं।
जगत का भरमना छोड़ दे बालके
आय जा भेष-भगवन्त पाहीं॥
भेष-भगवंत की शेष महिमा करे
शेष के सीर पर चरन डारैं।
कामदल जीति के कँवलदल सोधि के
ब्रह्म को बेधि के क्रोध मारैं॥
पदम-आसन करैं पौन परिचै करैं
गगन के महल पर मदन जारैं।
कहत कबीर कोई सन्त-जन जौहरी
करम की रेख पर मेख मारैं॥

—शब्दा०, पृ० ५०

परन्तु अक्खड़ता कबीरदास का सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को सम्बोधन करते हैं तब उनकी अक्खड़ता पूरे चढ़ाव पर होती है। वे योग के विकट रूपों का अवतरण करते हैं; गगन और पवन की पहेली बुझाते रहते हैं, सुन्न और सहज का रहस्य पूछते रहते हैं, द्वैत और अद्वैत के सत्त्व की चर्चा करते रहते हैं और अवधू के अज्ञान पर कुटिल हँसी-सी हँसा करते हैं—

अवधू, अच्छरहूँ सों न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना-पवना दोनों बिनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा॥

गगना-मद्धे जोती झलके, पानी-मद्धे तारा।
घटिगे नींर विनसिगे तारा, निकरि गयौ केहि द्वारा ।।
मेरुदंड पर डारि दुलैची, जोगी तारी लाया।
सोइ सुमेर पर खाक उड़ाती, कच्चा योग कमाया ।।
इँगला विनसैं, पिंगला विनसैं, बिनसैं सुषमनि नाड़ी।
जब उनमनि की तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी ।।
अद्वैत-विराग कठिन है भाई, अँटके मुनिवर-जोगी।
अच्छर-लौकी गम्म बतावैं, सो है मुक्ति-विरोगी ।।
कह अरु अकह दुहूँ तें न्यारा, सत्त-असत के पारा।
कहँ कवीर ताहि लख जोगी, उतरि जाय भव-पारा ।।

इसी भाषा को योगी समझते थे। ठीक भी है, यदि समाधि-मात्रगम्य निर्मम की भजन-पूजा विहित नहीं है तो योगी से भी तो उलट के उसी शुष्कता और उसी निर्ममता के साथ पूछा जा सकता है कि बाबा, उनमनि तक तो ठीक है, वहाँ तुमने माना कि अक्षर-पुरुष का साक्षात्कार कर लिया, परन्तु फिर? जब समाधि भंग हुई,—जब उनमनि की तारी टूटी, तब? तब तो फिर उसी भवजाल में लौट आये। अब तुम्हारी क्या गति होगी? सो, कबीरदास अवधूत से बात करते समय पूरी अक्खड़ता से काम लेते हैं और अपने व्यक्तित्व को बहुत ऊँचे उठाकर बोलते हैं, क्योंकि वे अवधू के इस मनोभाव को पहचानते हैं। एक बार अगर उसे अपने व्यक्तित्व को ऊपर उठा ले जाने की छूट दे दी गई तो फिर उससे पार पाना कठिन है। विरोधी के ही अस्त्र से विरोधी को घायल करने की कला में कबीरदास उस्ताद हैं। गगन और पवन के बल पर आतंक जमाने वाले से यह छोटा-सा प्रश्न कितना सहज और फिर भी कितना तिलमिला देने वाला है: 'गगना-पवना दोनों बिनसैं कहँ गया जोग तुम्हारा ?'

यह उनकी अनधिकार चर्चा नहीं थी। वे समाधिगम्य परमपुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलटकर सहस्रारचक्र में ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य-साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत-वर्षी पावस का अनुभव कर चुके थे, उस महान् पद को देख आये थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कतेब की गम नहीं है, जहाँ की गगन-गुफा में किसी गैब की चाँदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्त का नाम भी नहीं है, जहाँ

दिन और रात की पहुँच नहीं है,—जो प्रेम के प्रकाश का समुद्र है, जो सदानन्द का विशाल निर्झर है, जो भ्रम और भ्रान्ति से परे है, जो एक-रस है, ब्रह्म की छौल में (झूले में) वे निश्चित रूप से झूल चुके थे—

करत कल्लोल दरियाव के वीच में,
ब्रह्म की छौल में हंस झूलै।
अर्ध औ' ऊर्ध्व की पेंग वाढ़ी तहाँ,
पलट मन पवन को कँवल फूलै॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कत्तेव की गम्म नाहीं तहाँ,
कहैं कव्वीर कोई रमै सूरा॥
गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना,
उदय और अस्त का नाम नाहीं।
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम-परकास के सिन्धु माहीं॥
सदा आनन्द दुख-दंद व्यापै नहीं,
पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं,
कहैं कब्बीर रस एक पेखा॥

—शब्दा०, पृ० १०८

परन्तु वे स्वभाव से फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक वार चिपट गये उससे जिन्दगी भर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। वे सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथ में मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसी को साथी बनाने को तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके—

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारों तासु का, जो चलै हमारे साथ॥

—स० क० सा० ५।८

वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे। मस्त—जो पुराने कृत्यों का हिसाब नहीं रखता, वर्तमान कर्मों को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब-कुछ झाड़-फटकार निकल जाता है। जो दुनियादार किये-कराये का लेखा-जोखा दुरुस्त रखता है वह मस्त नहीं हो सकता। जो अतीत का चिट्ठा खोले रहता है वह भविष्य का क्रान्तदर्शी नहीं बन सकता। जो इश्क का मतवाला है वह दुनिया के माप-जोख से अपनी सफलता का हिसाब नहीं करता। कबीर जैसे फक्कड़ को दुनिया की होशियारी से क्या वास्ता ? ये प्रेम के मतवाले थे मगर अपने को उन दीवानों में नहीं गिनते थे जो माशूक के लिए सर पर कफन बाँधे फिरते हैं, जो बेकरारी की तड़पन में इश्क का चरम फल पाने का भान करते हैं, क्योंकि बेकरारी उस वियोग में होती है जिसमें प्रिय दूर हो,—उसे पाना कठिन हो। पर जहाँ प्यारे से एक क्षण के लिए भी विछोह नहीं, वहाँ तड़पन कैसी ? जो गगरी भरी है उसमें छलकन कहाँ ? जहाँ द्वैत-भावना ही मिट गई हो उस अजब मस्ती में बेचैनी कहाँ ?

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहें आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या।
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नांजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या।।

—शब्दा०, पृ० १६-१७

इसीलिए ये फक्कड़राम किसी के धोखे में आने वाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम-राम करके आगे चल दिये। योग-प्रक्रिया को उन्होंने डट के अनुभव किया, पर जँची नहीं। उन नकटों के समान चुप्पी साधना उन्हें मालूम न था जिन्होंने इस आशा पर नाक कटा ली थी कि इस बाधा के दूर होते ही स्वर्ग दिखाई लेने लगता है। उन्हें यह परवा न थी कि

लोग उनकी असफलता पर क्या-क्या टिप्पणी करेंगे। उन्होंने विना लाग-लपेट के, विना झिझक और संकोच के एलान किया—

आसमान का आसरा छोड़ प्यारे,
उलटि देख घट अपना जी।
तुम आप में आप तहकीक करो,
तुम छोड़ो मन की कलपना जी।

—क० व०, पृ० १ : ३, पद ८७

आसमान अर्थात् गगन-चन्द्र की परम ज्योति; जो वस्तु केवल शारीरिक व्यायाम और मानसिक शम-दमादि का साध्य है वह चरम सत्य नहीं हो सकती। योगी लोग एक प्रकार की जड़-समाधि की बात स्वीकार करते हैं जिसमें योगी लक्ष्य-भ्रष्ट होकर जड़ शरीर-विकार को सिद्धि समझने लगता है। परम-पुरुष योग का परम प्रतिपाद्य है, आत्मा-गम्य है, वह आँख-कान का विषय नहीं है। केवल शारीरिक और मानसिक कवायद से दीखने वाली ज्योति जड़ चित्त की कल्पना-मात्र है। वह भी वाह्य है। कबीर ने कहा, और आगे चलो। केवल क्रिया वाह्य है, ज्ञान चाहिए। विना ज्ञान के योग व्यर्थ है। केवल पिण्ड में,—तत्रापि गगन-गुफा में या शून्यचक्र में यदि घटघटवासी मिलता है तो कहीं विसमिल्ला ही गलत हो गया है। अगर कहते हो कि वह केवल भीतर ही है तो वाहर का यह सारा विश्वब्रह्माण्ड मारे लज्जा के पानी-पानी हो जाता है। क्या गगन-गुफा के बाहर सब-कुछ भगवान् के वाहर है, क्या उसके कण-कण में प्रभु व्याप्त नहीं है, क्या वह व्यर्थ ही जगत् में पड़ा हुआ है? पर अगर इसी की ओर ताकें, यही मान लें कि वाहर की सारी दुनिया में ही वह परम-पुरुष रम रहा है और भीतर उससे शून्य है तो यह बात झूठ है। कबीरदास ने कितनी ही बार 'कमल-कुआँ में ब्रह्मरस' का पान किया था, गगन से झरते हुए अमृत-रस का आस्वादन किया था। यह झूठ है कि यह परम-पुरुष भीतर नहीं है। जो कहता है कि वह भीतर ही है वाहर नहीं, वह सारे बाह्य जगत् को व्यर्थ ही लज्जित करता है और जो कहता है कि वह भीतर है ही नहीं, वह झूठा है। कबीरदास हैरान हैं कि क्या कहकर इस अकथ-कथा को कहें—

ऐसा लो, नहिं तैसा लो।
मैं केहि विधि कथौं, गँभीरा लो।

भीतर कहूँ, तो जगमय लाजै
वाहर कहूँ तो झूठा लो।
वाहर-भीतर, सकल निरन्तर
गुरु-परतापैं दीठा लो।

कवीर की यह घर-फूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अक्खड़ता उनके अखण्ड आत्मविश्वास का परिणाम थी। उन्होंने कभी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को और अपनी साधना को सन्देह की नजरों से नहीं देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कहीं भी डिगा नहीं। कभी गलती महसूस हुई तो उन्होंने एक क्षण के लिए भी नहीं सोचा कि इस गलती के कारण वे स्वयं हो सकते हैं, उनके मत से गलती वरावर प्रक्रिया में होती थी, मार्ग में होती थी, साधन में होती थी। शायद उनके नाम पर चलने वाले हजारों भजनों में से एक भी हमारे इस कथन के प्रतिवाद में नहीं उद्धृत किया जा सकता। उनकी अखण्ड आत्म-निष्ठा में एक क्षण के लिए भी दुर्बलता नहीं दिखाई दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्म-विश्वास को आ-.य करके ही पनपती है। कवीर के लिए साधना एक विकट संग्राम-स्थली थी, जहाँ कोई विरला शूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिर को उतारकर देने की कला नहीं आती, वह इस मार्ग का राही नहीं बन सकता—

पकरि समसेर मैदान में पैसिये,
देह-परजंत करु जुद्ध भाई॥
काट सिर बैरियाँ दाव जहँ का तहाँ,
आय दरवार में सीस नाई॥
करत मतवाल जहाँ संत-जन सूरमा,
घुरत निस्सान तहँ गगन धाई॥
कहै कव्वीर अव नाम सों सुरखरू,
मौज दरवार की भक्ति पाई॥

—शब्द ८, पृ० १०६

कवीर जिस साईं की साधना करते थे वह मुफ्त की वातों से नहीं मिलता था। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता था—

साँई संत न पाइये, बाताँ मिलै न कोय।
कबीर सौदा राम सों, सिर बिन कदै न होय॥

—स० क० सा० ८५-८६

रामानन्द की प्रेम-भक्ति का यह एक अभूतपूर्व परिणाम हुआ। भक्ति के अश्रु, स्वेद, कम्प आदि महाभाव हवा हो गये। भगवान् का प्रेम बड़ी चीज है, पर उस बड़ी चीज को पाने की साधना भी बड़ी होनी चाहिये। प्रेम का यह व्यापार कुछ खाला का घर नहीं है कि बात-बात पर मचल गये और फरमाइश पूरी हुई। यहाँ तो वही प्रवेश पाने का हकदार है जो पहले सिर उतारकर धरती पर रख दे—

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घर माँहि॥
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद॥

—क० ग्रं०, पृ० ६९

यह प्रेम किसी खेत में नहीं उपजता, किसी हाट में नहीं बिकता, फिर भी जो कोई भी इसे चाहेगा, पा लेगा। वह राजा हो या प्रजा, उसे सिर्फ एक शर्त माननी होगी, वह शर्त है सिर उतारकर धरनी पर रख ले। जिसमें साहस नहीं, जिसमें इस अखण्ड प्रेम के ऊपर विश्वास नहीं, उस कायर की यहाँ दाल नहीं गलेगी। हरि के मिल जाने पर साहस दिखाने की बात करना बेकार है, पहले हिम्मत करो, भगवान् आगे आकर मिलेंगे। उथली भावुकता, हिस्टीरिक प्रेमोन्माद और बातूनी इश्क यहाँ बेकार हैं,—अपने अधिगम्य पर अखण्ड विश्वास ही इस प्रेम की कुंजी है;—विश्वास, जिसमें संकोच नहीं, द्विधा नहीं, बाधा नहीं।

प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा 'जिस रुचे, सिर दे सो ले जाइ॥
सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।
आगेथैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास॥

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥
—क० ग्रं०, पृ० ७०

कबीरदास भक्त और पतिव्रता को एक कोटि में रखते थे। दोनों का धर्म कठोर है, दोनों की वृत्ति कोमल है, दोनों के सामने प्रलोभन का दुस्तर जंजाल है, दोनों ही कांचन-पदधर्मी हैं,—बाहर से मृदु, भीतर से कठोर; बाहर से कोमल, भीतर से परुष। सब की सेवा में व्यस्त, पर एक की आराधिका पतिव्रता ही भक्त के साथ तुलनीय हो सकती है। सती की सिंदूर-रेखा के बदले काजल नहीं दिया जा सकता और कबीर के नैनों में भी राम रम गया है, दूसरा नहीं रम सकता—

कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैन रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ॥

भक्त की यह प्रार्थना केवल सती को ही शोभ सकती है—

नैंना अंतर आव तूं, ज्यों ही नैन झँपेउं।
ना हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउँ॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपताँ, क्या लागै है मेरा॥

कबीरदास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखण्ड अविचलित विश्वास था उसी ने उनकी कविता में असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते वह व्यर्थ ही पांडित्य-प्रदर्शन से पाठकों का समय नष्ट करते हैं। प्रेम-भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारपात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल-भेदी अन्तस्तल से अपना रस संचय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड्डता नहीं है पर अक्खड़ता है,—इसकी प्रचण्डता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है। यह प्रेम वज्र

से भी कठोर है, कुसुम से भी कोमल ! इसमें हार भी जीत है, जीत भी जीत है।

हारौं तो हरि नाम है, जो जीतूं तो दाव।
पारब्रह्म सों खेलता, जो सिर जाय तो जाय ।।

—स० क० सा० ६५—६०

इस सरलता और विश्वास के कारण ही जहाँ वे एक स्थान पर भगवान् के निकट अतिशय विनीत और हतदर्प दीखते हैं वहाँ दूसरे स्थान पर चुनौती देते हुए भी दिख जाते हैं। पर कहीं भी उन्होंने शिकायत नहीं की, मचलने का अभिनय नहीं किया, उपालम्भों की झड़ी नहीं लगाई,—महान् की महत् मर्यादा को उन्होंने कभी अपनी ससीमता से गँदला नहीं किया। साँईं के प्रति उनकी भक्ति अडिग है। वे राम के कुत्ते के रूप में अपना परिचय देते नहीं लजाते। कवीर राम का कुत्ता है, नाम उसका मुतिया है। राम ने ही इस मुतिया के गले में एक रस्सी बाँध दी है। सो वह जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाता है। जव वह तो-तो करके पुकारता है तो मुतिया भी उसके पास चला जाता है और जव दुर-दुर करता है तो वेचारे मुतिया को भागने के सिवा और चारा ही क्या है ? कवीरदास कहते हैं कि भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे वही खा लेना कर्तव्य है। निरीह सारल्य का यह चरम दृष्टान्त है—

कवीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ ।।
तो तो कर तो बाहुड़ौं, दुरि दुरि करै तो जाउँ।
ज्यूं हरि राखै त्यूं रहौं, जो देवै सो खाउं ।।

—क० ग्रं०, पृ० २०

आत्मसमर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन को प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम-रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतम को कौन-सा ढंग पसन्द हो, कौन-सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय, उस अजव मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होता होगा—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव-सूं, कैसी रहसी रंग।

—क० ग्रं०, पृ० २०

इस उक्ति को अपने प्रति अविश्वास समझना गलती होगी। इसमें केवल प्रेमातिशय्य और औत्सुक्य प्रकट हुआ है। भक्त को अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है, पर प्रिय की उच्चता और महिमा के प्रति उसका विश्वास और भी अधिक है। अविचल प्रेमी ही यह सोचता है कि उसका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाय। अपनी अपूर्णता इस उत्सुकता और आशंका का कारण होती है, अपने प्रति अवज्ञा नहीं।

पता नहीं कि कबीरदास ने 'मुतिया' नाम क्यों पसन्द किया। क्या अनुमान किया जाय कि उनका बचपन का नाम मुतिया था ? असम्भव नहीं। पर मुतिया नाम है बड़ा जानदार। इस नाम में ही कुत्ते की सारी निरीहता मानों दुम हिलाती हुई सामने खड़ी हो जाती है। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि क्या यह वही आदमी है जो बीसियों बार गगन-गुफा का चक्कर लगा लेने के बाद उधर के कोने-कोने से ऐसा परिचित हो गया कि बड़े-से-बड़े अवधूत को ललकार सकता है, जो शास्त्र और परम्परा के जटिल जाल में घुसकर इस सफाई के साथ उसकी ग्रंथियाँ शिथिल कर देता है कि जाल फैलाने वाला ही आश्चर्य-भरी मुद्रा से देखता रह जाता है, जो क्षणभर के लिए भी अपने ज्ञान को नहीं भूलना चाहता और जिसकी उक्तियाँ प्रतिपक्ष के ऊपर सीधा आघात करती हैं ! परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सरल आदमी ही प्रचण्ड होता है, विश्वासपरायण मनुष्य ही निरीह होता है, निष्ठावान् ही विनीत होता है।

कबीर जब 'पंडित' या 'शेख' पर आक्रमण करने को उद्यत होते हैं तो उतने सावधान नहीं होते जितने अवधूत या योगी पर आक्रमण करते समय दिखते हैं। कारण यह है कि 'पंडित' और 'शेख' के ज्ञान-भण्डार को उन्होंने उतनी सूक्ष्मता के साथ नहीं देखा जितनी बारीकी से अवधूत की साधना देखी है। इसीलिए यह आक्रमण उतना उग्र भी नहीं होता। वह पण्डित और शेख को इस प्रकार पुकारते हैं गोया वे नितान्त नगण्य जीव हों,—केवल बाह्याचारों के गटठ्र, केवल कुसंस्कारों के गुड्डे। साधारण हिन्दू-गृहस्थ पर आक्रमण करते समय वे लापरवाह होते हैं और इसलिए लापरवाही भरी एक हँसी उनके अधरों पर मानो खेलती रहती है। मानो वे इन अदने आदमियों को इस योग्य भी नहीं समझ रहे हों जिन पर आक्रमण किया जा सके। परन्तु इस

लापरवाही के कारण ही इन आक्रमणों में एक सहज-सरल भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान् हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंगों की जान है। सच पूछा जाय तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबरदस्त व्यंग-लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करनेवाली भाषा, बिना कहे भी कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचार पर आक्रमण करने वाले सन्तों और योगियों की कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे—

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है ?
चिउँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।।
अन्तर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है।
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है।।
चलने का मनसूवा नाहीं, रहने को मन करता है।
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि जमीं में धरता है।।
जेहि लहना है सो लै जइहै, पापी बहि बहि मरता है।
सतवन्ती को गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरै खासा है।।
जेहि घर साधू भीख न पावै, भंडुआ खात बतासा है।
हीरा पाय परख नहिं जानै, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।

—कबीर वच०, पृ० १४४

यह भाषा झकझोर देने वाली है, जितनी सादी उतनी ही तेज़। पढ़ते समय साफ मालूम होता है कि कहनेवाला अपनी ओर से एकदम निश्चित है। अगर वह अपनी ओर से इतना निश्चित न होता तो इस तरह का करारा व्यंग्य नहीं कर सकता।

कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना की ग्रंथि या 'इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स' पाया जाता है। वे मानो लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं, मानो चिलम न पा सकनेवालों के आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं। कबीरदास के आक्रमणों में भी एक रस है; एक जीवन है, क्योंकि, वे आक्रान्त के वैभव से परिचित नहीं थे और अपने को समस्त आक्रमण-योग्य दुर्गुणों से मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाही का कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्म-विश्वास का कृपाण भी।

कबीर उस समाज में पालित हुए थे जो न तो हिन्दुओं द्वारा समादृत था, न मुसलमानों द्वारा पूर्णरूप से स्वीकृत। वह कुल-परम्परा से ज्ञानार्जन के अयोग्य समझा जाता था। बाहर के प्रलोभन से हो या भीतर के आघात से, वह मुसलमानी राजत्वकाल में मुसलमान धर्म ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सका था, पर न तो राज-धर्म के ग्रहण कर लेने के कारण उसमें राजकीय गरिमा का संचार ही हुआ था और न प्राचीन हीनता से उद्धार ही। नाम-मात्र की मुसलमान इस जुलाहा जाति के रक्त में प्राचीन योगमार्गीय विश्वास पूरी माला में वर्तमान था, पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का दरवाजा उसके लिए रुद्ध हो गया था। ये गरीबी में जनमते थे, गरीवी में ही पलते थे और उसी में ही मर जाया करते थे। ऐसे कुल में पैदा हुए व्यक्ति के लिए कल्पित ऊँच-नीच भावना और जाति-व्यवस्था का फौलादी ढाँचा तर्क और वहस की वस्तु नहीं होती, जीवन-मरण का प्रश्न होता है। कबीरदास इसी समाज के रत्न थे। वे सामाजिक विषमताओं को बौद्धिक तर्क-विलास की वस्तु न समझते रहे हों, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। सौभाग्यवश उन्हें वे सब युक्तियाँ नहीं मालूम थीं जो इस स्पष्ट ही अनुचित समाज-व्यवस्था को उचित साबित कर सकती हैं। वे उन शास्त्रीय विचारों से सर्वथा मुक्त थे जो सामाजिक जीवन को स्थितिशील (स्टेटिक) देखने में ही समाज का कल्याण समझते हैं। और भी उनमें आत्मविश्वास परिपूर्ण मात्रा में था। वह जो बाह्यांचारों की जीवन्त प्रतिक्रिया, शास्त्रीय विचार की अनभिज्ञता के कारण निर्भीक आक्रमण-कारिता और अपनी निर्दोषिता का परिपूर्ण भरोसा है उसने उनके आत्म-

विश्वास को भी आक्रामक (एग्रेसिव्ह) वना दिया था और उनकी लापरवाही को भी रक्षणात्मक (डिफेन्सिव्ह) वना दिया था। इसीलिए वे सीधी वात को भी ललकारने की भाषा में ही वोलते थे। सारी परिस्थिति का विश्लेपण न कर सकने वाले पंडित इसे अटपटी वाणी समझकर सन्तोष कर लेते हैं या फिर घमण्ड और दम्भ समझकर कुछ आश्वस्त से हो लेते हैं।

जो लोग पौराणिक कथाओं को जानते हैं उन्हें मालूम है कि करीव-करीव सभी देवताओं और ऋषि-मुनियों के नाम ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनसे उनके चरित्र की विशुद्धता में सन्देह होता है। पर जो लोग पुराणों के तत्त्व-वाद के जानकार हैं वे उनमें भी भगवल्लीला का आभास पाते हैं और उन्हें न तो उक्त कथाओं में अविश्वास होता है और न उन मुनियों या देवताओं के चरित्र के विपय में सन्देह। कवीरदास पौराणिक कथाओं के थोड़े-वहुत जानकार थे, पर तत्त्ववाद के कायल न थे, शायद जानते भी नहीं थे। इसीलिए उन्होंने कथाओं पर विश्वास करके मुनियों और देवताओं के चरित्र को उसी रूप में स्वीकार किया जिस रूप में लिखा गया है। अपने ऊपर उनका विश्वास प्रवल था और पौराणिक कथाओं ने सुर-नर-मुनि के चरित्रों पर सन्देह करने का अवसर दिया। इसीलिए अत्यन्त सीधी और सहज वात कहते समय भी उनके आत्मविश्वास का आक्रामक रूप प्रकट हो ही गया—

झीनी झीनी वीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से वीनी चदरिया।
इंगला-पिंगला ताना भरनी, सुसमन तारं से वीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागै, ठोक ठोक कै वीनी चदरिया॥
सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़िन, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कवीर जतन से ओढ़िन, ज्यों कै त्यों धर दीनी चदरिया॥

—शव्दा०, पृ० ७४

इसमें दम्भ का लेश भी नहीं है, घमण्ड का स्पर्श भी नहीं है। है केवल अपने पर अखण्ड विश्वास और पौराणिक कथानकों की सरलतापूर्ण स्वीकृति। सचमुच ही तो इस पंच तत्त्व और तीन गुण की शरीर-चादर सभी मुनियों और देवताओं ने ओढ़ के मैली कर दी है। पुराण तो ऐसा ही वताते हैं और यह भी

सच है कि कबीरदास ने उस चादर को मैली नहीं होने दी। कबीर की अन्तरात्मा इस महासत्य का अविसंवादी साक्षी है। फिर इसमें दम्भ या घमण्ड कहाँ है? पर जो कोई इसे पढ़ेगा वह इस आत्मविश्वास के आक्रमणकारी पहलू को लक्ष्य किये बिना नहीं रहेगा। सारी बात कुछ इस लहजे में कही गई है कि वह आक्रमणमूलक हो गई है। 'सुर-नर-मुनि' को उँगली दिखाकर कहना और उनकी तुलना में अपने-आप को बैठा देना और फिर उनसे बड़ा बताना निश्चय ही एक ऐसा तीव्र कटाक्ष है जो लक्ष्यभूत श्रोता को चिढ़ाये बिना नहीं रह सकता। पर लक्ष्य करने योग्य है कहने वाले की लापरवाही। वह इतनी बड़ी चिढ़ा देने वाली बात कह गया है लेकिन कटुता के साथ नहीं, और प्रत्याक्रमण की चिन्ता के साथ तो बिलकुल नहीं।

ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त-मौला; स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़; भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड; दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य कर्म से वन्दनीय। वे जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे, इसीलिए उनकी उक्तियाँ वेधनेवाली और व्यंग्य चोट करनेवाले होते थे। उनके पूर्ववर्ती बाह्याचार-विरोधियों ने स्वयं अपने लिए बाह्याचार का आडम्बर बना रखा था, इसलिए उनमें वह मस्ती-भरी लापरवाही नहीं थी जो कबीर को इतना आकर्षक बनाये हुए है। फिर उनके पूर्ववर्ती सहजयानी बौद्ध, और योगी लोग जितनी भी पोथी की निन्दा क्यों न करें, पोथी उनकी पढ़ी होती थी और भीतर ही-भीतर वे पोथी की महिमा से अभिभूत होते थे। कबीर के समान निर्भीक आत्म-विश्वास के साथ वे कभी नहीं कह सके कि—

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होइ रे!
मैं कहता हौं आँखिन देखी
तू कहता कागद की लेखी;
मैं कहता सुरझावनहारी
तू राख्यो अरुझाइ रे!

अखंड आत्म-विश्वास और अहैतुक भक्ति के बिना इतनी सफाई से कोई नहीं कह सकता कि तू राख्यो अरुझाइ रे! सहज बात को सहज ही न कह व्यर्थ तर्क-फेनिल बना देना ही क्या अधिकांश 'कागद की लेखी' का कार्य नहीं

है ? कबीर के बहुत दिन बाद एक दूसरे भक्त ने कहा था—शुरू से ही कुछ लोग नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में सोचने का अभ्यास कर लेते हैं। इनमें जो जितना ही अधिक कल्पना-प्रवीण होता है उतना ही बड़ा पंडित माना जाता है, पर सही बात यह होती है कि इस कौशल से वे भगवान से क्रमशः दूर ही होते जाते हैं और अपनी कल्पनाओं को ही ये तर्क-निष्ठ लोग 'शास्त्र' नाम देते हैं—

अभ्यासाद्य उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले—
जंन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्त्ताप्रसंगा अमी।
ये यत्राधिक कल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः
स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति ये जानन्त्यहो तार्किकाः!

—कविकर्णपूर, चैतन्य-चन्द्रोदय (द्वितीय अंक)

और भी बहुत दिन बाद एक और कवि ने अचरज-भरी मुद्रा में व्यर्थ के तर्कजाल को देखकर हैरान होकर कहा है, उनकी बातें मुझे चक्कर में डाल देती हैं लेकिन तुम्हारी बात मेरी समझ में आ जाती है। तुम्हारा आकाश है और तुम्हारी ही हवा है, यह तो बहुत सीधी-सी बात है—

ओदेर कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बुझि।
तोमार आकाश तोमार बातास,
एइ त सबइ सोजासुजि॥

—रवीन्द्रनाथ

कबीर 'ज्ञान के हाथी' पर चढ़े थे, पर 'सहज का दुलीचा' डाले बिना नहीं, भक्ति के मन्दिर में प्रविष्ट हुए थे, पर 'खाला का घर' समझ कर नहीं, बाह्याचार का खण्डन किया था, पर निरुद्देश्य आक्रमण की मंशा से नहीं, भगवद्विरह की आँच में तपे थे, पर आँखों में आँसू भरकर नहीं, राम को आग्रहपूर्वक पुकारा था, पर बालकोचित मचलन के साथ नहीं—सर्वत्र उन्होंने एकसमता (बैलेंस) रखी थी। केवल कुछ थोड़े से विषयों में वे समता खो गये थे। अकारण सामाजिक उच्च-नीच मर्यादा के समर्थकों को वे कभी क्षमा नहीं कर सके, भगवान के नाम पर पाखण्ड रखनेवालों को उन्होंने कभी छूट नहीं दी, दूसरों को गुमराह बनाने वालों को उन्होंने कभी तरह देना उचित नहीं समझा। ऐसे

अवसरों पर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे। पर गुमराह लोगों की गलती दिखाने में उन्हें एक तरह का रस मिलता था। व्यंग्य करने में उन्हें जैसे तृप्ति मिलती थी। निम्नलिखित पद में गंगा नहानेवालियों की कैसी कस कर खवर ली गई है—

चली है कुलवोरनी गंगा नहाय।
सतुवा कराइन वहुरी भुँजाइन, घूंघट ओटे भसकत जाय।
गठरी वाँधिन मोटरी वाँधिन, खसम के मूँड़े दिहिन धराय।
विछुवा पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसम के मारिन धाय।
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल लिहिन चढ़ाय।
पाँच-पचीस कै धक्का खाइन, घरहुँ की पूंजी आई गँवाय।
कहत कवीर हेत कर गुरु सों, नहीं तोर मुकुती जाइ नसाइ॥

—क० वच०, पृ० १४४

भक्ति के अतिरेक में उन्होंने कभी अपने को पतित नहीं समझा। क्योंकि उनके दैन्य में भी उनका आत्म-विश्वास साथ नहीं छोड़ देता था। उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरा से मतवाला वना हुआ था वह ज्ञान के गुण से तैयार की गई थी, इसीलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का उनमें एकान्त अभाव था। युगावतारी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युगप्रवर्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी, इसीलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्य में उनके व्यक्तित्व को कहा जा सकता है: वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे—वेपरवाह, दृढ़, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।

उपसंहार

कबीर धर्मगुरु थे। इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए, परन्तु विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूप में उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है। समाज-सुधारक के रूप में, सर्व-धर्मसमन्वयकारी के रूप में, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायक के रूप में, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में और वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिक के रूप में भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता, विविध भाँति गावहिं श्रुति-सन्ता' के अनुसार कबीर कथित हरि की कथा का विविध रूप में उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी-कभी उत्साहपरायण विद्वान् गलती से कबीर को इन्हीं रूपों में से किसी एक का प्रतिनिधि समझकर ऐसी-ऐसी बातें करने लगते हैं जो असंगत कही जा सकती हैं।

भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे! जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया,—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम-अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गयी है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने में और चुटकी लेने में भी कबीर

अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी —सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला ज़ाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कवीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

हिन्दी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कवीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रति-द्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कवीर के व्यक्तित्व में वड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सव-कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कवीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति वना दिया है। उनकी वाणियों में सव-कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कवीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कवीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कवीर की उक्तियाँ श्रोता को वलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कवीर को 'कवि' कहने में सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाय तो और कहा क्या जाय? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कविरूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कवीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी वातें नहीं कही थीं। उनकी छन्दोयोजना, उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण-रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल। अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्व के कारण ही वे सहृदय को आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य सन्तों से विशेष वना देता है। यद्यपि कवीरदास एक ऐसे विराट् और आनन्दमय लोक की वात करते हैं जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी वताते हैं जहाँ बारह महीने वसन्त रहता है, निरन्तर अमृत की झड़ी लगी रहती है, फिर भी;

जैसा कि एवेलिन अण्डरहिल ने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनन्दिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण-मानव-जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं; उनके महिमा-समन्वित और आवेग-मय विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं, जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेषताएँ हैं—(१) सादगी और सहजभाव पर निरन्तर जोर देते रहना, (२) बाह्य धर्माचारों की निर्मम आलोचना, और (३) सब प्रकार के विरागभाव और हेतुप्रकृतिगत अनुसंधित्सा के द्वारा सहज ही गलत दिखने वाली बातों को दुर्बोध्य और महान् बना देने की चेष्टा के प्रति वैर-भाव। इसीलिए वे साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असा-धारण भावों को ग्राह्य बनाने में सदा सफल दिखाई देते हैं। कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वास के आस्वाद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिए उनके सन्त-रूप के साथ ही उनका कवि-रूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पाई जाती है, वह बात है भगवान् के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्य मात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परन्तु, आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अन्तर-संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इसके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थ-हीन आचार पसन्द

नहीं थे, चाहे वे बड़े-से-बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्तित हों या उच्च-से-उच्च समझी जानेवाली धर्म-पुस्तक से उपदिष्ट हों। बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेमभक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और संभ्रम का भाव भी उनके पदों में नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्यमात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत, श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारों की संख्या में लोग सम्प्रदाय-विशेष के प्रवर्तक मानने में ही गौरव अनुभव करते हैं !

जो लोग हिन्दू-मुसलिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिन्दू-मुसलिम एकता का पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूप को भूलकर उसके एक-देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं,' तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दु पर से धार्मिक द्वन्द्वों को देखते ही न थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन में और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिलकुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूप से भगवान् में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य हैं बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई

तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्याचारवर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वास का अविश्लेष्य सीमेंट भी काम करेगा। इसी अर्थ में कबीरदास हिन्दू और मुसलमानों के ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है, कबीरदास को केवल इन्हीं रूपों में देखना सही देखना नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवान् पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने-आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात को सुननेवाले न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयं को ही पुकारकर कह उठते : 'अपनी राह तू चले कबीरा!' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदास का यह भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच के बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदास ने इस बात को हजार तरह से कहा है। इस भक्ति या भगवान् के प्रति अहैतुक अनुराग की बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं हैं पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक हैं। मूल वस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है, इसलिए केवल वाणी का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिए अकथ्य का ध्वनन, काव्य-शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है,—बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-

बनाते अपने आप बन गया है।

प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोक में अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेम के क्षेत्र में,—स्वाधीनभर्तृका नायिका के गर्व की भाँति अपने और अपने प्रिय के प्रति अखण्ड विश्वास की परिचायक है; जो बात लोक में दब्बूपन और कायरता कहलाती है वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान् के प्रति भक्त का अनन्यपरायण आत्मार्पण होती है और जो बातें लोक में परस्पर विरुद्ध जंचती हैं भगवान् के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है। लोक में ऐसे जीव की कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब-कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब-कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो, जो छोटे-से-छोटा भी हो और बड़े-से-बड़ा भी; जो एक भी हो और अनेक भी; जो बाहर भी हो और भीतर भी, जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी; जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय सेवक भी; जिसमें समस्त गुणों का आरोप भी किया जा सके और गुण-हीनता का भी; और फिर भी जो न इन्द्रिय का विषय हो, न मन का, न बुद्धि का। परन्तु भगवान् के लिए सब विशेषण सब देशों के साधक सर्व-भाव से देते रहे हैं। जो भक्त नहीं है, जो अनुभव द्वारा साक्षात्कार किये हुए सत्य में विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्क में उलझकर रह जाते हैं, पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहिं-सगुणहिं नहिं कछु भेदा' (तुलसीदास)। परन्तु तर्कपरायण व्यक्ति इस कथन के अटपटेपन को वदतो-व्याघात कहकर सन्तोष कर लेता है। यदि भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्त के लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं। भगवान् के अनिर्वचनीय स्वरूप को भक्त ने जैसा कुछ देखा है वह वाणी के प्रकाशन-क्षेत्र के बाहर है, इसीलिए वाणी नाना प्रकार से परस्पर-विरोधी और अविरोधी शब्दों द्वारा उस परम प्रेममय का

रूप निर्देश करने की चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थता पर नहीं जाता; वह उसकी रूपातीत व्यंजना को ही देखता है।

भक्ति-तत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें उन वाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्व की उपलब्धि में वाधक हैं ! यह वात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री वन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह भी फोकट का माल या वाईप्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन वातों से ही कवीरदास की महिमा का विचार करते हैं वे केवल सतह पर ही चक्कर काटते हैं। कवीरदास एक जवरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति जो इतने क्षेत्रों को उद्भासित कर सकी है, मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्भासित पदार्थ ही ज्योति है, वड़ी भारी गलती है। उद्भासित पदार्थ ज्योति की ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ है, इस वात का निर्देश देते हैं। ऊपर-ऊपर, सतह पर चक्कर काटनेवाले समुद्र भले ही पार कर जायँ, पर उसकी गहराई की थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियों का लेखक अपने को सतह का चक्कर काटनेवालों से विशेष नहीं समझता। उसका दृढ़ विश्वास है कि कवीरदास के पदों में जो महान् प्रकाशपुंज है वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है। वह म्यूजियम की चीज नहीं है वल्कि जीवित प्राणवान् वस्तु है। कवीर पर पुस्तकें वहुत लिखी गई हैं, और भी लिखी जायँगी, पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधना की गहराई तक जाने की चेष्टा करते हों। राम की वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गई थी, पर उसकी गहराई का पता तो मन्दर पर्वत को ही था जिसका विराट् शरीर आपाताल-निमग्न हो गया था—

अब्धिलँघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्
आपाताल-निमग्न-पीवरतनुर्जानाति मन्द्राचलः ।

सो, कवीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगाने वाला ही समझ सकता है।

कवीर ने जिन तत्त्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है उसके लिए कवीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की सम्भावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रम से वह भाषा आज

के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती है। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषा में परम्परा से चली आई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारण को जाने बिना उस भाषा को ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं है। यहाँ उसी ऐतिहासिक परम्परा के अध्ययन का प्रयास है। यह प्रयास पूर्णरूप से सफल हुआ ही होगा, ऐसा हम दावा नहीं करते; परन्तु वह गर्हणीय नहीं है, इस बात में लेखक को कोई सन्देह नहीं है।

कबीरदास ने स्वयं अरूप को रूप देने की चेष्टा की थी। परन्तु वे स्वयं कह गये हैं कि ये सारे प्रयास तभी तक थे जब तक परम-प्रेम के आधार प्रियतम का मिलन नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्ति के साधन हैं, मार्ग हैं। गन्तव्य तक पहुँच जाने पर मार्ग का हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरों की व्याख्या के प्रयास को क्या कहा जाय? ये तो साधन को समझाने के साधन,—साधन के भी साधन हैं।

प्रसंग-क्रम से इसमें कबीरदास की भाषा और शैली समझाने के कार्य से कभी-कभी आगे बढ़ने का साहस किया गया है। जो वाणी के अगोचर है, उसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है, जो मन और बुद्धि की पहुँच से परे है उसे बुद्धि के बल पर समझने की कोशिश की गई है, जो देश और काल की सीमा के परे है उसे दो-चार-दस पृष्ठों में बाँध डालने की साहसिकता दिखाई गई है। कहते हैं, समस्त पुराणों और महाभारतीय संहिता लिखने के बाद व्यास देव ने अत्यन्त अनुताप के साथ कहा था कि हे अखिल विश्व के गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है फिर भी मैंने ध्यान के द्वारा इन ग्रन्थों में रूप की कल्पना की है, आप अनिर्वचनीय हैं, व्याख्या करके आपके स्वरूप को समझा सकना सम्भव नहीं है फिर भी मैंने स्तुति द्वारा व्याख्या करने की कोशिश की है,—वाणी द्वारा प्रकाश करने का प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु-परमाणु में तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादि विधान से उस व्यापित्व को खण्डित किया है। भला जो सर्वत्र परिव्याप्त है उसके लिए तीर्थ-विशेष में जाने की व्यवस्था क्या? सो हे जगदीश, मेरी बुद्धिगत विकलता के ये तीन अपराध,—अरूप की रूपकल्पना, अनिर्वचनीय का

स्तुतिनिर्वचन, व्यापी का स्थान-विशेष में निर्देश—तुम क्षमा करो। क्या व्यास जी के महान् आदर्श का पदानुसरण करके इस लेखक को भी यही कहने की जरूरत है?—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्,
स्तुत्या निर्वचनीयताऽखिलगुरोर्दूरी कृतायन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीश, तद् विकलता-दोषत्रयं मत्कृतम्॥

प्रेममार्गी सूफी कवि

मलिक मोहम्मद जायसी

हिन्दी साहित्य को मुसलमान सूफी कवियों की बहुत बड़ी देन है। प्रेममार्गी निर्गुणशाखा का शुभारम्भ इन्हीं प्रेमाख्यानकार सूफी कवियों ने ही किया है। इस समस्त परम्परा में मलिक मोहम्मद जायसी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सन् १५०० के आसपास माना जाता है। ये उत्तर प्रदेश के जायस स्थान के निवासी थे। बाल्यावस्था में ही शीतला के प्रकोप में इनकी बाँई आँख और कान नष्ट हो गया था। इनके पिता की मृत्यु भी इनके बाल्यकाल में ही हो गई थी। फलस्वरूप, इनका पालनपोषण ननिहाल में हुआ। समर्थ होने पर ये अपने स्थान को लौट आए थे और वहीं सन् १५५८ में इनकी मृत्यु हुई।

जायसी अत्यन्त उच्चकोटि के सरल और उदार महात्मा थे। अमेठी-नरेश को इनके आशीर्वाद से पुत्र-लाभ हुआ था और इस कारण वे इन्हें बहुत अधिक मानते थे।

जायसी सूफी पद्धति में ईश्वर की प्रेममयी उपासना करते थे। अपने उपासना मार्ग को रूपायित करने के लिए इन्होंने 'पद्मावत' प्रबन्ध-काव्य की रचना की। इस काव्य की रचना फारसी की मसनवी शैली में दोहा-चौपाइयों में हुई है। इसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का प्रतिपादन रमणीय आध्यात्मिक संकेतों और प्रतीकों के द्वारा किया गया है। यह 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य की एक अमर निधि है। आखिरी कलाम, अखरावट और चित्ररेखा इनकी अन्य रचनाएँ हैं।

कवि द्वारा वस्तु-वर्णन

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

वस्तुवर्णन कौशल से कवि लोग इतिवृत्तात्मक अंशों को भी सरस बना सकते हैं। इस बात में हम संस्कृत के कवियों को अत्यन्त निपुण पाते हैं। भाषा के कवियों में वह निपुणता नहीं पाई जाती। मार्ग चलने का ही एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए। राम किष्किंधा की ओर जा रहे हैं। तुलसीदासजी इसका कथन इतिवृत्त के रूप में इस प्रकार करते हैं—

आगे चले बहुरि रघुराया। ऋष्यमूक पर्वत नियराया।

किसी पर्वत की ओर जाते समय दूर से उसका दृश्य कैसा जान पड़ता है, फिर ज्यों-ज्यों उसके पास पहुँचते हैं त्यों-त्यों उस दृश्य में किस प्रकार अंतर पड़ता जाता है, पहाड़ी मार्ग के आसपास का दृश्य कैसा हुआ करता है, यह सब ब्योरा उक्त कथन में या उसके आगे कुछ भी नहीं है। वही रघुवंश के द्वितीय सर्ग में दिलीप, उनकी पत्नी और नंदिनी गाय के 'मार्ग चलने का दृश्य' देखिए। आस-पास की प्राकृतिक परिस्थिति का कैसा सूक्ष्म बिंबग्रहण कराता हुआ कवि चला है। चलने में मार्ग के स्वरूप को ही देखिए कवि ने कैसा प्रत्यक्ष किया है:

तस्याः खुरन्यासपवित्र पांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

'गाय के पीछे-पीछे पगडंडी पर सुदक्षिणा चली' इतना ही तो इतिवृत्त है, पर जिसकी धूल पर नंदिनी के खुर के चिह्न पड़ते चलते हैं, यह विशेषण-वाक्य देकर कवि ने उस मार्ग का चित्र भी खड़ा कर दिया है। वस्तुओं की ऐसी संश्लिष्ट योजना द्वारा बिंबग्रहण कराने का—वस्तुओं का अलग-अलग नाम लेकर अर्थग्रहण मात्र कराने का नहीं—प्रयत्न हिन्दी कवियों में बहुत ही कम दिखाई पड़ता है। अतः जायसी में भी हम इसका आभास बहुत कम पाते हैं। इन्होंने जहाँ-जहाँ वस्तुवर्णन किया है वहाँ-वहाँ भाषा-कवियों की पृथक्-पृथक्

वस्तुपरिगणन वाली शैली ही पर अधिकतर किया है। अतः ये वर्णन परंपराभुक्त ही कहे जा सकते हैं। केवल वस्तुपरिगणन में नवीनता कहाँ तक आ सकती है? ऋतु का वर्णन होगा तो उस ऋतु में फलने-फूलने वाले पेड़ पौधे और दिखाई पड़ने वाले पक्षियों के नाम होंगे, वन का वर्णन होगा तो कुछ इने-गिने जंगली पेड़ों के नाम आ जायेंगे, नगर या हाट का वर्णन होगा तो वाग-वगीचों, मकानों और दूकानों का उल्लेख होगा। नवीनता की सम्भावना तो कवि के निज परीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं और व्यापारों की संश्लिप्ट योजना में ही हो सकती है। सामग्री नई नहीं होती, उसकी योजना नए रूप में होती है।

ऊपर लिखी वात का ध्यान रखते हुए भी यह मानना पड़ता है कि वस्तु-वर्णन के लिए जायसी ने घटनाचक्र के वीच उपयुक्त स्थलों को चुना है और उनका विस्तृत वर्णन अधिकतर भाषा कवियों की पद्धति पर होते हुए भी वहुत ही भावपूर्ण है। अव संक्षेप में कुछ मुख्य स्थलों का उल्लेख किया जाता है जिन्हें वर्णन विस्तार के लिए जायसी ने चुना है।

सिंहल द्वीप वर्णन—इसमें वगीचों, सरोवरों, कुओं, वावलियों, पक्षियों, नगर, हाट, गढ़, राजद्वार और हाथी घोड़ों का वर्णन है। अमराई की शीतलता और सघनता का अंदाज इस वर्णन से कीजिए—

घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुँत लागि अकासा॥
तरिवर सवै मलयगिरि लाई। भइ जग छाँह, रैनि होइ आई॥
मलय समीर सोहावनि छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ॥
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सवै अकास देखावै॥
पथिक जो पहुँचे सहिकै घामू। दुख विसरै, सुख होइ विसरामू॥

इतना कहते कवि का ध्यान ईश्वर के सामीप्य की भावना की ओर चला जाता है और वह उस अमर धाम की ओर, जहाँ पहुँचने पर भवताप से निवृत्ति हो जाती है, इस प्रकार संकेत करता है—

जेइ पाई वह छांह अनूपा। फिर नहिं आइ सहै यह धूपा॥

कवि की यही पारमार्थिक प्रवृत्ति उसे हेतूत्प्रेक्षा की ओर ले जाती है। ऐसा जान पड़ता है मानो उसी अमराई की छाया से ही संसार में रात होती है और आकाश हरा (प्राचीन दृष्टि हरे और नीले में इतना भेद नहीं करती थी) दिखाई देता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, जिन दृश्यों का माधुर्य भारतीय हृदय पर चिरकाल से अंकित चला आ रहा है उन्हें चुनने की सहृदयता जायसी का एक विशेष गुण है। भारत के शृंगारप्रिय हृदयों में 'पनिघट का दृश्य' एक विशेष स्थान रखता है। बूढ़े केशवदास ने पनिघट ही पर बैठे-बैठे अपने सफेद बालों को कोसा था। सिंहल के पनिघट का वर्णन जायसी इस प्रकार करते हैं—

पानि भरे आवहिं पनिहारी। रूप सुरूप पदमिनी नारी ॥
पदुम गंध तिन्ह अंग बसाहीं। भँवर लागि तिन्ह संग फिराहीं ॥
लंक सिंघिनी, सारंग नैनी। हंस गामिनी, कोकिल बैनी ॥
आवहिं झुंड सो पाँतिहि पाँती। गवन सोहाइ सो भाँतिहि भाँती ॥
कनक कलस, मुख चंद दिपाहीं। रहस केलि सन आवहिं जाहीं ॥
जा सहुँ वै हेरहिं चख नारी। बाँक नैन जनु हनहिं कटारी ॥
केस मेघावर सिर ता पाई। चमकहिं दसन बीजु कै नाई ॥

पद्मावती का अलौकिक रूप ही सारी आख्यायिका का आधार है। अतः कवि इन पनिहारियों के रूप की झलक दिखाकर पद्मावती के रूप के प्रति पहले ही से इस प्रकार उत्कंठा उत्पन्न करता है—

माथे कनक गागरी आहि रूप अनूप।
जेहिके अस पनिहारी सो रानी केहि रूप ?

बाजार के वर्णन में 'हिंदू हाट' की अच्छी झलक मिल जाती है—

कनक हाट सब कुहुँकुहुँ लीपी। बैठ महाजन सिंघलदीपी ॥
सोन रूप भल भएउ पसारा। धवल सिरी पोतहिं घर बारा ॥

जिस प्रकार नगर हाट के वर्णन से सुखसमृद्धि टपकती है उसी प्रकार गढ़ और राजद्वार के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से प्रताप और आतंक—

निति गढ़ बाँचि चलै ससि सुरू। नाहिं त होइ बाजि रथ चूरू ॥
पौरी नवौ बज्र कै साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी ॥
फिरहिं पाँच कोटवार सुभौंरी। काँपै पाँव चपत वह पौरी ॥

जलक्रीड़ा वर्णन—सिंहलद्वीप वर्णन के उपरांत सखियों सहित पद्मावती की जलक्रीड़ा का वर्णन है (दे० मानसरोदक खंड)। यद्यपि जायसी ने इस प्रकरण की योजना कौमार अवस्था के स्वाभाविक उल्लास और मायके की स्वच्छंदता की व्यंजना के लिए की है, पर सरोवर के जल में घुसी हुई कुमारियों का मनोहर

दृश्य भी दिखाया है और जल में उनके केशों के लहराने आदि का चित्रण भी किया है—

धरी तीर सब कंचुकि सारी। सरवर महँ पैठीं सब नारी ॥
पाइ नीर जानहु सब वेली। हुलसहिं करहिं काम कै केली ॥
करिल केस विसहर विस भरे। लहरैं लेहि कँवल मुख धरे ॥
नवल वसंत सँवारी करी। भई प्रगट जानहु रस भरी ॥
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाई पैठ लेइ तारा ॥

उल्लास के अनुरूप क्रिया जायसी ने इस खेल में दिखाई है—

सँवरिहि साँवरि गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्हि सो जोरी ॥

सिंहलद्वीप यात्रा वर्णन—वस्तुवर्णन की जो पद्धति जायसी की कही गई है उसे ध्यान में रखते हुए मार्गवर्णन जैसा चाहिए वैसे की आशा नहीं की जा सकती। चित्तौड़ से कलिंग तक जाने में मार्ग में न जाने कितने वन, पर्वत, नदी, निर्झर, ग्राम, नगर तथा भिन्न-भिन्न आकृति प्रकृति के मनुष्य इत्यादि पड़ेंगे पर जायसी ने उनका चित्रण करने की आवश्यकता नहीं समझी। केवल इतना ही कहकर वे छुट्टी पा गए—

है अगॅा परवत कै वाटा। विषम पहार अगम सुठि घाटा ॥
विच विच नदी खोइ औ नारा। ठाँवहि ठाँव वैठ वटमारा ॥

प्राकृतिक दृश्यों के साथ जायसी के हृदय का वैसा मेल नहीं जान पड़ता। मनुष्यों के शारीरिक सुख-दुःख से, उनके आराम और तकलीफ से उनका जहाँ तक सम्बन्ध होता है वहीं तक उनकी ओर उनका ध्यान जाता है। बगीचों और अमराइयों का वर्णन वे जो करते हैं सो केवल वन की सघन शीतल छाया के विचार से। वन का जो वे वर्णन करते हैं वह कुश कंटकों के विचार से, कष्ट और भय के विचार-से—

करहु दीठि थिर होइ वटाऊ। आगे देखि धरहु भुइं पाऊ ॥
जो रे ऊवट होइ परै भुलाने। गए मारि, पथ चलै न जाने ॥
पायंन पहिरि लेहु सब पौंरी। काँट धँसै न गड़ै अँकरौरी ॥
परे आइ वन परवत माहाँ। दंडाकरन वीझ वन गाहाँ ॥
सघन ढाक वन चहुँदिसि फूला। वहु दुख पाव जहाँ कर भूला ॥
झाँखर जहाँ सो छाँड़हु पंथा। हिलगि मकोय न फारहु कंथा ॥

फारसी की शायरी में जंगल और वयावान का वर्णन केवल कष्ट या विपत्ति के प्रसंग में आता है। वहाँ जिस प्रकार चमन आनन्दोत्सव का सूचक है उसी प्रकार कोट या वयावान विपत्ति का। संस्कृत साहित्य का जायसी को परिचय न था। वे वन, पर्वत आदि के अनुरंजनकारी स्वरूप के चित्रण की पद्धति पाते तो कहाँ पाते ? उनकी प्रतिभा इस प्रकार की न थी कि किसी नई पद्धति की उद्भावना करके उस पर चल खड़ी होती।

समुद्र वर्णन—हिन्दी के कवियों में केवल जायसी ने समुद्र का वर्णन किया है, पर पुराणों के 'सात समुद्र' के अनुकरण के कारण समुद्र का प्रकृत वर्णन वैसा होने नहीं पाया। क्षीर, दधि और सुरा के कारण समुद्र के प्राकृतिक स्वरूप का अच्छा प्रत्यक्षीकरण न हो सका। आरम्भ में समुद्र का जो सामान्य वर्णन है उसके कुछ पद्य अवश्य समुद्र की महत्ता और भीषणता का चित्र खड़ा करते हैं, जैसे—

समुद अपार सरग जनु लागा । सरग न घाल गनै वैरागा ॥
उठै लहरि जनु ठाढ़ पहारा । चढ़ै सरग औ परै पतारा ॥

विशेप समुद्रों में से केवल 'किलकिला समुद्र' का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक तथा वैसे महत्त्वजन्य आश्चर्य और भय का संचार करनेवाला है जैसा समुद्र के वर्णन द्वारा होना चाहिए—

भा किलकिल अस उठै हिलोरा । जनु अकास टूटै चहुँ ओरा ॥
उठहिं लहरि परवत कै नाईं । फिरि आवहिं जोजन सौ ताईं ॥
धरती लेइ सरग लहि वाढ़ा । सकल समुद जानहु भा ठाढ़ा ॥
नीर होइ तर ऊपर सोई । माथे रंभ समुद जस होई ॥

यदि इस प्रकार के वर्णन का विस्तार और अधिक होता तो क्या अच्छा होता। 'समुद अपार सरग जनु लागा' इस वाक्य में विस्तार का वहुत ही सुंदर प्रत्यक्षीकरण हुआ है। जहाँ तक दृष्टि जाती है वहाँ तक समुद्र ही फैला हुआ और क्षितिज से लगा हुआ दिखाई पड़ता है। दृश्य रूप में विस्तार का यह कथन अत्यन्त काव्योचित है। अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ ने भी अपने 'श्रांत पथिक' (ट्रैवलर)नामक काव्य में विस्तार का प्रत्यक्षीकरण—'ए वेयरी वास्ट इक्स्पेंडिंग टु द स्काईज' (आकाश तक फैला हुआ मैदान) कह कर किया है। 'परवत कै नाईं' इस साम्य द्वारा भी लहरों की ऊँचाई की जो भावना उत्पन्न की गई वह

काव्य-पद्धति के बहुत ही अनुकूल है। इसके स्थान पर यदि कहा गया होता कि लहरें बीस-पचीस हाथ ऊँची उठती हैं तो माप शायद ठीक होती पर जो प्रभाव कवि उत्पन्न करना चाहता था वह उत्पन्न न होता। इसी से काव्य के वर्णनों में संख्या या परिमाण का उल्लेख नहीं होता और जहाँ होता भी है वहाँ उसका लाक्षणिक अर्थ ही लिया जाता है, जैसे 'फिरि आवहिं जोजन सौ ताईं' में। काव्य के वाक्य श्रोता की ठीक मान निर्धारित करनेवाली या सिद्धांत निरूपित करने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि को संबोधन करके नहीं कहे जाते।

समुद्र के जीव जंतुओं का जो काल्पनिक और अत्युक्त वर्णन जायसी ने किया है उससे सूचित होता है कि उन्होंने किस्से कहानियों में सुनी सुनाई बातें ही लिखी हैं, अपने अनुभव की नहीं। उन्होंने शायद समुद्र देखा भी न रहा हो।

सात समुद्रों के जो नाम जायसी ने लिखे हैं उनमें से प्रथम पाँच तो पुराणानुकूल हैं, पर अंतिम दो किलकिला और मानसर—भिन्न हैं। पुराणों के अनुसार सात समुद्रों के नाम हैं क्षार (खारे पानी का), जल (मीठे पानी का), क्षीर, दधि, घृत, सुरा और मधु। इनमें से जायसी ने घृत और मधु को छोड़ दिया है। सिंहलद्वीप के पास 'मानसर' की कल्पना वैसी ही है जैसी कैलाश में इंद्र और अप्सराओं की।

विवाह वर्णन—इसमें आनन्दोत्सव और भोज का वर्णन है। सजावट आदि का चित्रण अच्छा है। इसमें राजा के ऐश्वर्य और प्रजा के उल्लास का आभास मिलता है—

रचि रचि मानिक मांडव छावा। औ भुइँ रात बिछाव बिछावा॥
चंदन खाँभ रचे बहु भाँती। मानिक दिया बरहिं दिन राती॥
साजा राजा, बाजन बाजे। मदन सहाय दुवौ दर गाजे॥
औ राता सोने रथ साजा। भए बरात गोहने सब राजा॥
घर घर बंदन रचे दुवारा। जावत नगर गीत झनकारा॥
हाट बाट सब सिंघल, जहँ देखहुँ तहँ रात।
धनि रानी पद्मावती, जेहिकै ऐसि बरात॥

बरात निकलने के समय अटारियों पर दूल्हा देखने को उत्कंठा से भरी स्त्रियों का जमावड़ा भारतवर्ष का एक बहुत पुराना दृश्य है। ऐसे दृश्यों को रखना

जायसी नहीं भूलते, यह पहले कहा जा चुका है। पद्मावती अपनी सखियों को लेकर वर देखने की उत्कंठा से कोठे पर चढ़ती हैं --

पद्मावति धौराहर चढ़ी। दहुँ कस रवि जेहि कहँ ससि गढ़ी॥
देखि वरात सखिन्ह सौं कहा।.इन्ह महँ सो जोगी कहँ अहा? ॥

सखियाँ उँगली से दिखाती हैं कि वह देखो—

जस रवि, देखु, उठे परमाता। उठा छत्र तस वीच वराता॥
ओहि माँझ भा दूलह सोई। और वरात संग सव कोई॥

इस कथन में कवि ने निपुणता यह दिखाई है कि सखी उस वरात के वीच पहले सवसे अधिक लक्षित होने वाली वस्तु छत्र की ओर संकेत करती है, फिर कहती है कि उसके नीचे वह जोगी दूल्हा वना वैठा है।

भोज के वर्णन में व्यंजनों और पकवानों की नामावली है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम-सीता के विवाह का जितना विस्तृत वर्णन किया है उतना विस्तृत वर्णन जायसी का नहीं है। गोस्वामीजी का रामचरित मानस लोकपक्ष प्रधान काव्य है और जायसी के 'पद्मावत' में व्यक्तिगत प्रेम साधना का पक्ष प्रधान है। अतः 'पद्मावत' में लोकव्यवहार का जो इतना चित्रण मिलता है उसी को वहुत समझना चाहिए। जैसा पहले कह आए हैं, इश्क की मसनवियों के समान यह लोकपक्षशून्य नहीं है।

युद्ध यात्रा वर्णन—सेना की चढ़ाई का वर्णन वड़ी धूमधाम का है। ग्रंथारंभ में शेरशाह की सेना के प्रसंग की चौपाइयाँ ही देखिए कितनी प्रभावपूर्ण हैं—

हय गय सेन चलै जग पूरी। परवत टूटि मिलहि होइ धूरी॥
रेतु रैनि होइ रविहिं गरासा। मनुख पंखि लेहिं फिरि वासा॥
भुई उड़ि अंतरिक्ख मृदमंडो। खंड खंड धरती वरम्हंडा॥
डोलै गगन, इंद्र डरि काँपा। वासुकि जाइ पतारहि चाँपा॥
मेरु धसमसै, समुद सुखाई। वनखँड टूटि खेह मिलि जाई॥
अगिलन्ह कहँ पानी लेइ वाँटा। पछिलन्ह कहँ नहिं काँदौ आटा॥

इसी ढंग का चित्तौर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वड़ा विस्तृत वर्णन है—

वादसाह हठि कीन्ह पयाना। इंद्र भंडार डोल भय माना॥
नव्वे लाख सवार जो चढ़ा। जो देखा सो सोने मढ़ा॥

वीस सहस घुम्मरहिं निसाना । गलगंजहिं फेरहिं असमाना ॥
वैरख ढाल गगन गा छाई । चला कटक धरती न समाई ॥
सहस पाँति गज मत्त चलावा । घुसत अकास, धँसत भुँई आवा ॥
विरिछ उपारि पेड़ि स्यों लेहीं । मस्तक झारि तोरि मुख देहीं ॥
कोउ काहू न सँभारे, होत आव डर चाप ।
धरती आपु कहँ काँपि, सरग आपु कहँ काँप ॥
आवै डोलत सरग पतारू । काँपे धरति, न अँगवै भारू ॥
टूटहिं परबत मेरु पहारा । होइ होइ चूर उड़हिं होइ छारा ॥
सत खंड धरती भई षट खंडा । ऊपर अस्ट भए वरम्हंडा ॥
गगन छपान खेह तस छाई । सूरुज छपा, रैनि होइ आई ॥
दिनहिं राति अस परी अचाका । भा रवि अस्त, चंद रथ हाँका ॥
मंदिरन्ह जगत दीप परगसे । पंथी चलत वसेरहि वसे ॥
दिन के पंखि चरत उडि भागे । निसि के निसरि चरैं सव लागे ॥

कैसे घोर सृष्टिविप्लव का दृश्य जायसी ने सामने रखा है। मानव व्यापारों की व्यापकता और शक्तिमत्ता का प्रभाव वर्णन करने में जायसी को पूरी सफलता हुई है। मनुष्य की शक्ति तो देखिए। उसकी एक गति में सारी सृष्टि में खलवली पड़ गई है। पृथ्वी और आकाश दोनों हिल रहे हैं। एक के सात के छः ही खंड रहते दिखाई देते हैं और दूसरे के सात के आठ हुए जाते हैं। दिन की रात हो रही है। जिस जायसी ने विशुद्ध प्रेममार्ग में मनुष्य की मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार किया—सच्चे प्रेमी की वियोगाग्नि की लपट को लोक-लोकांतर में पहुँचाया—उन्होंने यहाँ उसकी भौतिक शक्ति का प्रसार दिखाया है।

इस वर्णन में बिंबग्रहण कराने के हेतु चित्रण का प्रयत्न भी पाया जाता है। इसमें कई व्यापारों की संश्लिष्ट योजना कई स्थलों पर दिखाई देती है। जैसे हाथी पेड़ों को पेड़ी सहित उखाड़ लेते हैं और फिर मस्तक झाड़ते हुए उन्हें तोड़कर मुँह में डाल लेते हैं। इस रूप में वर्णन न होकर यदि एक स्थान पर यह कहा जाता कि हाथी पेड़ उखाड़ लेते हैं, फिर कहीं कहा जाता कि वे मस्तक झाड़ते हैं और आगे चलकर यह कहा जाता कि वे डालियाँ मुँह में डाल लेते हैं तो यह संकेतरूप में (अर्थग्रहण मात्र कराने के लिए, चित्त में प्रतिबिंब उपस्थित

करने के लिए नहीं) कथन मात्र होता, चित्रण न होता। इसी प्रकार पहाड़ टूटते हैं, टूट कर चूर-चूर होते हैं और फिर धूल होकर ऊपर छा जाते हैं। इस पंक्ति में भी व्यापारों की श्रृंखला एक में गुथी हुई है। ये वर्णन संस्कृत चित्रण प्रणाली पर हैं। जिन व्यापारों या वस्तुओं में जायसी के हृदय की वृत्ति पूर्णतया लीन हुई है उनका ऐसा चित्रण मानों आप से आप हो गया है।

इसके आगे राजा रत्नसेन के घोड़ों, हथियारों और उनकी सजावट आदि का अच्छे विस्तार के साथ वर्णन है। सब बातों की दृष्टि से यह युद्ध यात्रा वर्णन सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है।

युद्ध वर्णन—घमासान युद्ध वर्णन करने का भी जायसी ने अच्छा आयोजन किया है। शस्त्रों की चमक और झनकार, हाथियों की रेलपेल, सिर और धड़ गिरना आदि सब कुछ है—

हस्ती सहुँ हस्ती हठि गार्जाहं। जनु परवत परवत सौं बाजहिं ।।
कोउ गयंद न टारे टरहीं। टूटहिं दाँत, सूंड गिरि परहीं ।।
बाजहिं खड़ग, उठै दर आगी। भुइँ जरि चहै सरग कहँ लागी ।।
चमकहिं बीजु होइ उँजियारी। जेहि सिर परै होइ दुइ फारी ।।
बरसहिं सेल बान, हाइ कादों। जस बरसे सावन औ भादो ।।
लपटहि कोपि परहिं तरवारी। औ गोला ओला जस भारी ।।
जूझे वीर लखौं कहँ ताई। लेइ अछरी कैलास सिधाई ।।

अंतिम पंक्ति में वीरों के प्रति जो सम्मान का भाव प्रकट किया है वह हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की महत्त्व भावना के अनुकूल है। रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त शूरवीरों का स्वागत जैसे हिंदुओं के स्वर्ग में अप्सराएँ करती हैं वैसे ही मुसलमानों के बहिश्त में भी। लोकसम्मत आदर्श के प्रति यही पूज्य बुद्धि जायसी को कबीर आदि व्यक्तिपक्ष ही तक दृष्टि ले जाने वाले साधकों से अलग करती है।

भारतीय कवि-परंपरा युद्ध की भीषणता के बीच गीध, गीदड़ आदि के रूप में कुछ बीभत्स दृश्य भी लाया करती है। जायसी ने भी इस परंपरा का अनुसरण किया है—

आनंद ब्याह करहिं मंसखावा। अब भख जनम जनम कहँ पावा ।।
चौंसठ जोगिनि खप्पर पूरा। बिग जंबुक घर बाजहिं तूरा ।।

गिद्ध चील सव मंडप छार्वाहं । काग कलोल करहिं औ गावहिं ।।

वादशाह भोजन वर्णन—जैसा पहले कह आए हैं, इसमें अनेक युक्तियों से वनाए हुए व्यंजनों, पकवानों, तरकारियों और मिठाइयों इत्यादि की वड़ी लंवी सूची है—इतनी लंवी कि पढ़ने वाले का जी ऊव जाता है। यह भद्दी परंपरा जायसी के पहले से चली आ रही थी। सूरदासजी ने भी इसका अनुसरण किया है।

चित्तौरगढ़ वर्णन—यह भी उसी ढंग का है जिस ढंग का सिंहलगढ़ का वर्णन है। इसमें सात पौरें हैं, पर नव-द्वारवाली कल्पना नहीं आई है क्योंकि कवि को यहाँ किसी अप्रस्तुत अर्थ का समावेश नहीं करना था। चित्तौर वहुत दिनों तक हिंदुओं के वल, प्रताप और वैभव का केंद्र रहा। सारी हिंदू जाति उसे सम्मान और गौरव की दृष्टि से देखती रही। चितौर के नाम के साथ हिंदूपन का भाव लगा हुआ था। यह नाम हिंदुओं के मर्म को स्पर्श करने वाला है। भारतेन्दु के इस वाक्य में हिंदू हृदय की कैसी वेदना भरी है—

हाय चितौर ! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मझारी ।।

उसी प्रिय भूमि के संवंध में जायसी क्षत्रिय राजाओं के मुँह से कहलाते हैं—

चितउर हिंदुन कर अस्थाना। सत्रु तुरुक हठि कीन्ह पयाना ।।
है चितउर हिंदुन कै माता। गाढ़ परे तजि जाइ न जाता ।।

चित्तौर के इसी गौरव और ऐश्वर्य के अनुरूप गढ़ का यह वर्णन है—

सातौ पँवरी कनक केवारा। सातहुँ पर वाँजहि घरियारा ।।
खंड खंड साज पलंग औ पीढ़ी। मानहुँ इन्द्रलोक कै सीढ़ी ।।
चंदन विरिछ सुहाई छाहाँ। अमृत कुंड भरे तेहि माहाँ ।।
फरे खजहजा दारिउँ दाखा। जो ओहि पंथ जाइ सो चाखा ।।
कनक छत्र सिंहासन साजा। पैठत पँवरि मिला लेइ राजा ।।
चढ़ा साह, गढ़ चितउर देखा। सव संसार पाँय तर लेखा ।।
देखा साह गगन गढ़, इंद्रलोक कर साज।
कहिय राज फुर ताकर, करे सरग अस राज ।।

षट्ऋतु वारहमासा वर्णन—उद्दीपन की दृष्टि से तो इन पर विचार 'विप्रलंभ शृंगार' और 'संयोग शृंगार' के अन्तर्गत हो चुका है। वहाँ इनके नाना दृश्यों का जो आनन्ददायक या दुःखद स्वरूप दिखाया गया है वह किसी

अन्य (आलम्वन रत्नसेन) के प्रति प्रतिष्ठित रतिभाव के कारण है। उद्दीपन में वर्णन दृश्यों के स्वतंत्र प्रभाव की दृष्टि से नहीं होता। पर यहाँ उन दृश्यों का विचार हमें इस दृष्टि से करना है कि उनका मनुष्य मात्र की रागात्मिका वृत्ति के आलंवन के रूप में चित्रण कहाँ तक और कैसा हुआ है। ऐसे दृश्यों में स्वत: एक प्रकार का आकर्षण होता है, यह वात तो सहृदय मात्र स्वीकार करेंगे। इसी आकर्षण के कारण प्राचीन कवियों ने प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण करके तथा उनके संश्लिष्ट व्योरों को संश्लिष्ट रूप में ही रखकर दृश्यों का मनोहर चित्रण किया है। पर जैसा पहले कह आए हैं जायसी के ये वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से हैं जिसमें वस्तुओं और व्यापारों की झलक मात्र—जो नामोल्लेख मात्र से भी मिल सकती है—काफी समझी जाती है। पर वहुत ही प्यारे शब्दों में दिखाई हुई यह झलक है वहुत मनोहर। कुछ उदाहरण 'विप्रलम्भ शृंगार' के अन्तर्गत दिए जा चुके हैं, कुछ और लीजिए—

अद्रा लाग, लागि भुइँ लेई। मोहि विनु पिउ को आदर देई ? ॥
सावन वरस मेह अति पानी। भरनि परी, हौं विरह झुरानी ॥
भा परगास काँस वन फूले। कंत न फिरे, विदेसहि भूले ॥
कातिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल, हौं विरहै जारी ॥
टप-टप बूँद परहि औ ओला। विरह पवन होइ मारै झोला ॥
तरिवर झरहिं, झरहि वन ढाखा। भई ओनत फूली फरि साखा ॥
वौरे आम फरै अव लागे। अवहुँ आउ घर, कन्त सभागे ॥

यह झलक वारहमासे में हमें मिलती है। षट्ऋतु के वर्णन में सुख-सम्भोग का ही उल्लेख अधिक है, प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का वहुत कम। दोनों का वर्णन यद्यपि उद्दीपन की दृष्टि से है, दोनों में यद्यपि प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की अलग-अलग झलक भर दिखाई गई है, पर एक-आध जगह कवि का अपना निरीक्षण भी अत्यन्त सूक्ष्म और सुंदर है, जैसे—

चमक वीजु, वरसै जल सोना। दादुर मोर सवद सुठि लोना ॥

इसमें विजली का चमकना और उसकी चमक में वूँदों का सुवर्ण के समान झलकना इन दो व्यापारों की एक साथ योजना दृश्य पर कुछ देर ठहरी हुई दृष्टि सूचित करती है। यही वात वैसाख के इस रूपक वर्णन में भी है—

सरवर हिया घटत निति जाई। टूक टूक होई कै विहराई ।।
विहरत हिया करहु, पिउ ! टेका। दीठि दवंगरा, मेरवहु एका ।।

तालों का पानी जब सूखने लगता है तब पानी सूखे हुए स्थान में बहुत-सी दरारें पड़ जाती हैं जिससे खाने कटे दिखाई पड़ते हैं। वर्षा के आरम्भ की झड़ी (दवंगरा) जब पड़ती है तब वे दरारें फिर मिल जाती हैं। विदीर्ण होते हुए हृदय को सूखता हुआ सरोवर और प्रिय के दृष्टिपात को 'दवंगरा' बनाकर कवि ने प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का बहुत ही अच्छा परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त दो प्रस्तुत (बैसाख का वर्णन है इससे सूखते हुए सरोवर का वर्णन प्रस्तुत है, नागमती वियोगिनी है इससे विदीर्ण होते हृदय का वर्णन भी प्रस्तुत ही है) वस्तुओं के बीच सादृश्य की भावना भी अत्यन्त माधुर्यपूर्ण और स्वाभाविक है। मैं तो समझता हूँ इसके जोड़ की सुंदरता और स्वाभाविक उक्ति हिंदी काव्यों में बहुत ढूंढ़ने पर कहीं मिले तो मिले।

बारहमासे के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा हो सकती है कि कवि ने वर्णन का आरम्भ आषाढ़ से क्यों किया है, चैत से क्यों नहीं किया। बात यह है कि राजा रत्नसेन ने गंगा-दशहरे को चित्तौर से प्रस्थान किया था जैसा कि इस चौपाई से प्रकट है—

दसवें दावँ कै गा जो दसहरा। पलटा सोइ नाव लेइ महरा ।।

यह वचन नागमती ने उस समय कहा है जब राजा रत्नसेन सिंहल से लौट कर चित्तौर के पास पहुँचा है। इसका अभिप्राय यह है कि जो केवट दशहरे के दिन मेरी दशम दशा (मरण) करके गया था, जान पड़ता है कि वह नाव लेकर आ रहा है। दशहरे के पाँच दिन पीछे ही आषाढ़ लगता है इससे कवि ने नागमती की वियोग-दशा का आरम्भ आषाढ़ से किया है।

रूपसौंदर्य वर्णन—जैसा कि पहले कह आए हैं रूपसौंदर्य ही सारी आख्यायिका का आधार है अतः पद्मावती के रूप का बहुत ही विस्तृत वर्णन तोते के मुँह से जायसी ने कराया है। यह वर्णन यद्यपि परम्पराभुक्त ही है, अधिकतर परम्परा से चले आते हुए उपमानों के आधार पर ही है, पर कवि की भोली-भाली और प्यारी भाषा के बल से यह श्रोता के हृदय को सौंदर्य की अपरिमित भावना से भर देता है। सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों में सौंदर्य की झलक है, पद्मावती की रूपराशि की योजना के लिए कवि ने मानों सबको एकत्र कर

दिया है। जिस प्रकार कमल, चन्द्र, हंस आदि अनेक पदार्थों का सौंदर्य लेकर तिलोत्तमा का रूप संघटित हुआ था उसी प्रकार कवि ने मानों पद्मावती का रूप विधान किया है। पद्मावती का सौंदर्य अपरिमेय है, अलौकिक है और दिव्य है। उसके वर्णन मात्र से, उसकी भावना मात्र से, राजा रत्नसेन बेसुध हो जाता है। उसकी दृष्टि संसार के सारे पदार्थों से फिर जाती हैं, उसका हृदय उसी रूप-सागर में मग्न हो जाता है। वह जोगी होकर निकल पड़ता है।

पद्मावती के रूप का वर्णन दो स्थानों पर है। एक स्थान पर हीरामन सुआ चित्तौर में राजा रत्नसेन के सामने करता है, दूसरे स्थान पर राघव चेतन दिल्ली में बादशाह अलाउद्दीन के सामने। दोनों स्थानों पर वर्णन नखशिख की प्रणाली पर और सादृश्यमूलक है अतः उसका विचार अलंकारों के अन्तर्गत करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यहाँ पर केवल उन दो-चार स्थलों का उल्लेख किया जाता है जहाँ सौंदर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना पाई जाती है, जैसे—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई ।।
ओनई घटा, परी जग छाहाँ।
बेनी छोरि झार जौ बारा। सरग पतार होइ अँधियारा ।।

केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामता के वर्णन के लिए सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उसके प्रभाव की उद्भावना की है। इस छाया और अंधकार में माधुर्य और शीतलता है, भीषणता नहीं।

पद्मावती के पुतली फेरने से उत्पन्न इस रससमुद्र प्रवाह को तो देखिए—

जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार जाहि पल माहाँ ।।
जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वै भँवर चक्र कै जोरा ।।
पवन झकोरहिं देहिं हिलोरा। सरग लाइ भुँइ लाइ बहोरा ।।

उसके मंद मृदु हास के प्रभाव से देखिए कैसी शुभ्र उज्ज्वल शोभा कितने रूप धारण करके सरोवर के बीच विकीर्ण हो रही है—

बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा। भइ तहँ ओप जहाँ जो देखा ।।
पावा रूप, रूप जस चहा। ससि मुख सहुँ दरपन होइ रहा ।।
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर ।।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर ।।

पद्मावती के हँसते ही चन्द्रकिरण-सी आभा फूटी इससे सरोवर के कुमुद खिल उठे। यहीं तक नहीं, उसके चन्द्रमुख के सामने वह सारा सरोवर दर्पण-सा हो उठा अर्थात् उसमें जो-जो सुंदर वस्तुएँ दिखाई पड़ती थीं वे सब मानों उसी के अंगों की छाया थीं। सरोवर में चारों ओर जो कमल दिखाई पड़ रहे थे वे उसके नेत्रों के प्रतिबिंब थे, जल जो इतना स्वच्छ दिखाई पड़ रहा था वह उसके स्वच्छ निर्मल शरीर के प्रतिबिंब के कारण। उसके हास की शुभ्र कांति की छाया वे हंस थे जो इधर-उधर दिखाई पड़ते थे और उस सरोवर में (जिसे जायसी ने एक झील या छोटा समुद्र माना है) जो हीरे थे वे उसके दशनों की उज्ज्वल दीप्ति से उत्पन्न हो गए थे। पद्मावती का रूपवर्णन करते-करते फिर अनन्त सौंदर्य सत्ता की ओर कवि की दृष्टि जा पड़ी है। जिसकी भावना संसार के सारे रूपों को भेदती हुई उस मूल सौंदर्य सत्ता का कुछ आभास पा चुकी है वह सृष्टि के सारे सुंदर पदार्थों में उसी का प्रतिबिंब देखता है।

इसी प्रकार उस 'पारस रूप' का आभास—जिसके छायास्पर्श से यह जगत् रूपवान् है—जायसी ने उस स्थल पर भी दिया है जहाँ अलाउद्दीन ने दर्पण में पद्मावती के स्मित आनन का प्रतिबिंब देखा है—

बिहँसि झरोखे आइ सरेखी। निरखि साह दरपन महँ देखी॥
होतहि दरस, परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना॥

उसकी एक जरा-सी झलक मिलते ही सारा जगत् सौंदर्यमय हो गया, जैसे पारस मणि के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है। उस 'पारस रूप दरस' के प्रभाव से शाह बेसुध हो जाता है और उस दर्पण को एक सरोवर के रूप में देखता है।

'नखसिख खंड' में भी दाँतों का वर्णन करते-करते कवि की भावना उस अनन्त ज्योति की ओर बढ़ती जान पड़ती है—

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकी जोति परगसी॥

इसी रहस्यमय परोक्षाभास के कारण जायसी की अत्युक्तियाँ उतनी नहीं खटकतीं जितनी शृंगार रस के उद्भट पद्यों की वे उक्तियाँ जो ऊहा अथवा नाप-जोख द्वारा निर्धारित की जाती हैं। 'शरीर की निर्मलता' और 'जल की स्वच्छता'

के बीच जो बिंब-प्रतिबिंब-सम्बन्ध जायसी ने देखा है वह हृदय को कितना प्यारा जान पड़ता है। इसके सामने बिहारी की वह स्वच्छता जिसमें भूषण 'दोहरे, तिहरे, चौहरे' जान पड़ते हैं, कितनी अस्वाभाविक और कृत्रिम लगती है। शरीर के ऊपर दर्पण के गुण का यह आरोप भद्दा लगता है। यह बात नहीं है कि उपमान के चाहे जिस गुण का आरोप हम उपमेय में करें वह मनोहर ही होगा।

कवियों की प्रथा के अनुसार पद्मावती की सुकुमारता का भी अत्युक्तिपूर्ण वर्णन जायसी ने किया है। उसकी शय्या पर फूल की पंखड़ियाँ चुन-चुनकर बिछाई जाती हैं। यदि कहीं समूचा फूल रह जाय तो रात भर नींद न आए—

पँखुरी काढ़हि फूलन्ह सेंती। सोई डासहि सौंर सपेती॥
फूल समूचै रहै जो पावा। व्याकुल होइ, नींद नहि आवा॥

बिहारी इससे भी बढ़ गए हैं। उन्होंने अपनी नायिका के सारे शरीर को फोड़ा बना डाला है। वह तो 'झिझकति हिये गुलाब के झवाँ झवाँवत पाय'। जायसी ने भी इस प्रकार की भद्दी अत्युक्तियाँ की हैं, जैसे—

नस पानन्ह कै काढ़हि हेरी। अधर न गड़ै फाँस ओहि केरी॥
मकरि क तार ताहि कर चीरू। सो पहिरे छिरि जाइ सरीरू॥

सुकुमारता की ऐसी अत्युक्तियाँ अस्वाभाविकता के कारण, केवल ऊहा द्वारा मात्रा या परिमाण के आधिक्य की व्यंजना के कारण, कोई रमणीय चित्र सामने नहीं लातीं। प्राचीन कवियों के 'शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्य' का जो प्रभाव हृदय पर पड़ता है वह इस खरौंट और छालेवाले सौकुमार्य का नहीं। कहीं-कहीं गुण की अवस्थिति मात्र का दृश्य जितना मनोरम होता है उतना उस गुण के कारण उत्पन्न दशांतर का चित्र नहीं। जैसे, नायिका के ओठ की ललाई का वर्णन करते-करते यदि कोई 'तद्‌गुण' अलंकार की झोंक में यह कह डाले कि जब वह नायिका पीने के लिए पानी ओठों से लगाती है तब वह खून हो जाता है तो यह दृश्य कभी रुचिकर नहीं लग सकता। इंगुर, बंबा आदि सामने रखकर उस लाली की मनोहर भावना उत्पन्न कर देना ही काफी समझना चाहिए। उस लाली के कारण क्या-क्या बातें पैदा हो सकती हैं, इसका हिसाब-किताब बैठाना जरूरी नहीं।

इसी प्रकार की विरसतापूर्ण अत्युक्ति ग्रीवा की कोमलता और स्वच्छता के इस वर्णन में भी है—

पुनि तेहि ठाँव परी तिनि रेखा। घूँट जो पीक लीक सव देखा ॥

इस वर्णन से तो चिड़ियों के अंडे से तुरंत फूटकर निकले हुए बच्चे का चित्र सामने आता है। वस्तु या गुण का परिमाण अत्यन्त अधिक वढ़ाने से ही सर्वत्र सरसता नहीं आती। इस प्रकार की वस्तुव्यंग्य उक्तियों की भरमार उस काल से आरम्भ हुई जब से 'ध्वनि' का आग्रह वहुत वढ़ा, और सब प्रकार की व्यंजनाएँ उत्तम काव्य समझी जाने लगीं। पर वस्तुव्यंजनाएँ ऊहा द्वारा ही की और समझी जाती हैं, सहृदयता से उनका नित्य संवंध नहीं होता।

वस्तुवर्णन का संक्षेप में इतना दिग्दर्शन कराके हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि जिन-जिन वस्तुओं का विस्तृत वर्णन हुआ है उन सवको हम 'आलंवन' मानते हैं। जो वस्तुएँ किसी पात्र के आलंबन के रूप में नहीं आती उन्हें कवि और श्रोता दोनों के आलंबन समझना चाहिए। कवि ही आश्रय वनकर श्रोता या पाठक के प्रति उनका प्रत्यक्षीकरण कराता है। उनके प्रत्यक्षीकरण में कवि की भी वृत्ति रमती है और श्रोता या पाठक की भी। वन, सरोवर, नगर प्रदेश, उत्सव, सजावट, युद्ध, यात्रा, इत्यादि सव वस्तुएँ और व्यापार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के सामान्य आलंवन हैं। अतः इनके वर्णनों को भी हम रसात्मक वर्णन मानते हैं। आलंवन मात्र के वर्णन में भी रसात्मकता माननी पड़ेगी। 'नखशिख' की पुस्तकों में शृंगार रूप के आलंवन का ही वर्णन होता है और वे काव्य की पुस्तकें मानी जाती हैं। जिन वस्तुओं का कवि विस्तृत चित्रण करता है उन में से कुछ शोभा, सौंदर्य या चिरसाहचर्य के कारण मनुष्य के रतिभाव का आलंवन होती हैं, कुछ भव्यता, विशालता, दीर्घता आदि के कारण उसके आश्चर्य का, कुछ घिनौने रूप के कारण जुगुप्सा का, इत्यादि। यदि वलभद्र कृत 'नखशिख' और गुलाम नवी कृत 'अंगदर्पण' रसात्मक काव्य है तो कालिदास कृत हिमालयवर्णन और भूप्रदेशवर्णन भी।

पात्र द्वारा भावव्यंजना

पात्र द्वारा जिन स्थायी भावों की प्रधानतः व्यंजना जायसी ने कराई है वे रति, शोक और युद्धोत्साह हैं। दो एक स्थानों पर क्रोध की भी व्यंजना है। भय का केवल आलवन मात्र हम समुद्रवर्णन के भीतर पाते हैं, किसी पात्र द्वारा भय का प्रदर्शन नहीं। वीभत्स का भी आलंवन ही प्रथानुसार युद्ध-वर्णन में है। हास का तो अभाव ही समझना चाहिए। गौण भावों की व्यंजना कुछ तो अन्य भाव के संचारियों के रूप में है, कुछ स्वतंत्र रूप में। जायसी की भावव्यंजना के संवंध में यह समझ रखना चाहिए कि उन्होंने जवरदस्ती विभाव, अनुभाव और संचारी ठूंसकर पूर्ण रस की रस्म अदा करने की कोशिश नहीं की है। भाव का उत्कर्ष जितने से सध गया है उतने ही से उन्होंने प्रयोजन रखा है। अनुभावों की योजना कम है। 'पद्मावत' में यद्यपि शृंगार ही प्रधान है पर उसके संभोग पक्ष में स्तंभ, स्वेद, रोमांच नहीं मिलते। वियोग में अश्रुओं का वाहुल्य है। हावों का भी विधान नहीं है। विप्रलंभ में वैवर्ण्य आदि थोड़े से सात्विकों का कहीं-कहीं आभास मिलता है। इस कमी से रति-भाव के स्वरूप के उत्कर्ष में तो कोई कमी नहीं हुई है पर संभोग पक्ष उतना अनुरंजनकारी नहीं हुआ है।

भावव्यंजना का विचार करते समय दो वातें देखनी चाहिए—

१. कितने भावों और गूढ़ मानसिक विकारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है।

२. कोई भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँचा है।

पहली वात में हम जायसी को वढ़ा-चढ़ा नहीं पाते। इनमें गोस्वामी तुलसीदासजी की सी वह सूक्ष्म अंतर्दृष्टि नहीं है जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के वीच संघटित होने वाली अनेक मानसिक अवस्थाओं का विश्लेषण करती है। कैकेयी और मंथरा के संवाद में मानव प्रकृति का जैसा सूक्ष्म अध्ययन पाया जाता है वैसा पदि्मनी और दूती के संवाद में नहीं। क्षोभ से उत्पन्न उदासीनता और आत्मनिंदा, आश्चर्य से भिन्न चकपकाहट ऐसे गूढ़ भावों तक जायसी की पहुँच नहीं पाई जाती। सारांश यह कि मनुष्य हृदय की अधिक अवस्थाओं का सन्निवेश जायसी में नहीं मिलता। जो भाव संचारियों में गिना दिए गये हैं उनका भी वहुत ही कम संचरण किसी स्थायी भाव के भीतर

दिखाई पड़ता है। इन गिनाए हुए भावों के अतिरिक्त और न जाने कितने छोटे-छोटे भाव और मानसिक दशाएँ हैं जो व्यवहार में देखी जाती हैं और अनुसंधान करने पर भावुक कवियों की रचना में बराबर पाई जाएँगी। आश्चर्य ऐसे लोगों पर होता है जो 'देव' कवि के 'छल' नामक एक और संचारी ढूंढ निकालने पर वाह-वाह का पुल बाँधते हैं और देव को एक आचार्य समझते हैं। गोस्वामीजी की आलोचना में मैं कई ऐसे भाव दिखा चुका हूँ जिनके नाम संचारियों की गिनती में नहीं हैं। संचारियों में गिनाए हुए भाव तो उपलक्षण मात्र हैं। खैर, यहाँ केवल हमें इतना ही कहना है कि जायसी में भावों के भीतर संचारियों का सन्निवेश बहुत कम मिलता है। 'पद्मावत' में रतिभाव की प्रधानता है पर उसके अंतर्गत भी हम 'असूया', 'गर्व' आदि दो-एक संचारियों को छोड़ 'व्रीड़ा' 'अवहित्था' आदि अनेक भावों का कहीं पता नहीं पाते। इनके अवसर आए हैं पर कवि ने इनका विधान नहीं किया है—जैसे पद्मिनी के मंडप गमन का अवसर, प्रथम समागम का अवसर।

अब दूसरी बात भाव के उत्कर्ष पर आइए। इसमें जायसी बहुत बढ़े-चढ़े हैं, पर जैसा दिखाया जा चुका है यह उत्कर्ष विप्रलंभ पक्ष में ही अधिक दिखाई पड़ता है।

शृंगार का बहुत कुछ विवेचन विप्रलंभ शृंगार और संभोग शृंगार के अंतर्गत हो चुका है। यहाँ पर केवल रतिभाव के अंतर्गत कुछ मानसिक दशाओं की व्यंजना के उदाहरण ही काफी समझता हूँ। रत्नसेन से विवाह हो जाने पर पद्मावती अपनी कामदशा का वर्णन कैसे सीधे-सीधे पर भावगर्भित वचनों द्वारा करती है—

> कौन मोहनी दहुँ हुति तोही। जो तोहि बिथा सो अपनी मोही॥
> बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातक भइउँ कहत 'पिउ पीऊ'॥
> जरिउँ बिरह जस दीपक बाती। पथ जोहत भइँ सीप सेवाती॥
> भइउँ बिरह दहि कोइल कारी। डारि-डारि जिमि कूकि पुकारी॥
> कौन सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता जासु।
> वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥

दोहे में 'अभिलाष' का कैसा सच्चा प्रकृत स्वरूप है। प्रेम प्रेम चाहता है। इसी अभिलाष के अंतर्गत अपना दुःख प्रिय के सामने रखने, और प्रिय

भी मेरे विरह में दुखी है इस बात का निश्चय प्राप्त करने की उत्कंठा प्रेमी को होती है। रतिभाव के संचारी के रूप में 'आशा' या 'विश्वास' की बड़ी सुन्दर व्यंजना जायसी ने पद्मावती के मुँह से कराई है। देवपाल की दूती के यह कहने पर कि 'कस तुंइ, बारि, रहसि कुँभिलानी ?' पद्मावती कहती है—

तौ लौं रहौं झुरानी जौं लहि आव सो कंत ॥
एहि फूल, एहि सेंदुर होइ सो उठै बसंत ॥

इसी फूल (शरीर) से जिसे तुम इतना कुम्हलाया हुआ कहती हो और इसी सिंदूर की फीकी रेखा से जो रूखे सिर में दिखाई पड़ती है, फिर वसंत का विकास और उत्सव हो सकता है, यदि पति आ जाय। यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि होली के उत्सव के लिये जायसी ने अबीर के स्थान पर बराबर सिंदूर का व्यवहार किया है। संभव है उस समय सिंदूर से ही अबीर बनाया जाता रहा हो।

श्रृंगार के संचारी 'वितर्क' का एक उदाहरण, जो नया नहीं कहा जा सकता, लीजिए। बादल की नवागता वधू युद्ध के लिए जाने को तैयार पति की ओर देख रही है और खड़ी-खड़ी सोचती है—

रहौं लजाइ तौ पिउ चलै, कहौं तो कह मोहि ढीठ।

'वात्सल्य' के उद्‌गार दो स्थानों पर हैं। एक तो वहाँ जहाँ राजा रत्नसेन जोगी होकर घर से निकलने को तैयार होता है, फिर वहाँ जहाँ बादल रत्नसेन को छुड़ाने की प्रतिज्ञा करने के उपरांत युद्धयात्रा के लिए चलने को उद्यत होता है। दोनों स्थानों पर व्यंजना माता के मुख से है पर विस्तीर्ण और गंभीर नहीं है, साधारण है। परिस्थिति के अनुसार रत्नसेन की माता का वात्सल्य 'सुख के अनिश्चय' के द्वारा व्यक्त होता है और बादल की माता का 'शंका संचारी' द्वारा। रत्नसेन की माता कहती है—

सब दिन रहेहु करत तुम भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू ॥
कैसे धूप सहब बिनु छाहाँ ? कैसे नींद परिहि भुइँ माहाँ ॥
कैसे ओढ़ब काथरि कंथा ? कैसे पांव चलब तुम पंथा ॥
कैसे सहब खनहि खन भूखा ? कैसे खाब कुरकुटा रूखा ॥

जितना दुःख औरों के दुःख को देख-सुनकर होता है उतना दुःख प्रिय व्यक्ति के सुख के अनिश्चय मात्र से होता है। यह अनिश्चय प्रिय व्यक्ति के आँख से

ओझल होते ही उत्पन्न होने लगता है। तुलसी और सूर ने कौशल्या और यशोदा के मुख से ऐसे अनिश्चय की बड़ी सुंदर व्यंजना कराई है। ऐसे स्थलों पर इस अनिश्चय का कारण रतिभाव ही होता है, अतः जिस प्रकार 'शंका' रतिभाव की संचारी होती है उसी प्रकार यह 'अनिश्चय' भी। परिस्थितिभेद से कहीं संचारी केवल 'अनिश्चय' तक रहता है और कहीं 'शंका' तक पहुँचता है। छोटी अवस्था का बादल जिस समय रणक्षेत्र में जाने को तैयार होता है, उस समय माता की यह 'शंका' बहुत ही स्वाभाविक है—

बादल राय मोर तुइ बारा। का जानसि कस होइ जुझारा॥
बादसाह पुहुमीपति राजा। सनमुख होइ न हमीरहि छाजा॥
बरसहि सेल बान घन घोरा। धीरज धीर न बाँधिहि तोरा॥
जहाँ दलपती दलमलहिं, तहाँ तोर का काज?
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज॥

शंका तक पहुँचता हुआ यह 'अनिश्चय' प्रेमप्रसूत है, गूढ़ रति भाव का द्योतक है—

ह्वेयर लव इज ग्रेट, दि लिटिलेस्ट डाउट्स आर फियर्स।
ह्वेयर लिटिल फियर्स ग्रो ग्रेट, ग्रेट लव इज देअर।
—शेक्सपियर

मायके के स्वाभाविक प्रेम की कैसी गंभीर व्यंजना इन पंक्तियों में है—

गहवर नैन आए भरि आँसू। छाँड़व यह सिंघल कैलासू॥
छाँड़िउँ नैहर, चलउँ बिछेई। एहि रे दिवस कहँ हौं तव रोई॥
छाँड़िउँ आपनि सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली॥
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपने कर लेखा॥
मिलहु सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं॥
हम तुम मिलि एकै संग खेला। अंत बिछोह आनि गिउ मेला॥

दूती और पद्मावती के संवाद में पद्मावती द्वारा पातिव्रत्य की बड़ी ही विशद व्यंजना हुई है। पातिव्रत्य कोई एक भाव नहीं है। वह धर्म और पूज्यबुद्धि मिश्रित दांपत्य प्रेम है। उसके अन्तर्गत कभी रतिभाव की व्यंजना होती है, कभी प्रिय के महत्त्व को प्रकाशित करने वाले पूज्यभाव की, कभी प्रिय के महत्त्व के

गर्व की और कभी धर्मानुराग की। पहले पद्मावती उस दूती को अपने अनन्य प्रेम की सूचना इस प्रकार देती है—

अहा न राजा रतन अँजोरा। केहि क सिंघासन केहि क पटोरा ।।
चहुँ दिसि यह घर भा अँधियारा। सब सिंगार लेइ साथ सिधारा ।।
काया वेलि जानु तव जामी। सींचनहार आव घर स्वामी ।।

इस पर जब दूती दूसरे पुरुष की बात कहती है तब वह क्रोध से तमतमा उठती है और धर्म के तेज से भरे ये वचन कहती है—

रंग ताकर हौं जारौं काँचा। आपन तजि जो पराएहि राँचा ।।
दूसर करै जाइ दुइ बाटा। राजा दुइ न होंहि एक पाटा ।।

साथ ही अपने पति का महत्त्व दिखाती हुई उस पर इस प्रकार गर्व प्रकट करती है—

कुल कर पुरुष सिंह जेहि केरा। तेहि थल कैस सियार बसेरा ?।।
हिया फार कूकुर तेहि केरा। सिंघहि तजि सियार मुख हेरा ।।

o o o o

सोन नदी अस मोर पिउ गरुवा। पाहन होइ परै जौ हरुवा ।।
जेहि ऊपर अस गरुआ पीऊ। सो कस डोलाए डोलै जीऊ ।।

पिछली चौपाई में 'गरुआ' और 'डोलै' शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि ने जो एक अगोचर मानसिक विषय का गोचर भौतिक व्यापार के रूप में प्रत्यक्षीकरण किया है वह काव्यपद्धति का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है, पर उससे भी बढ़कर है व्यंजित गर्व की मार्मिकता। यह गर्व पातिव्रत की अचल धुरी है। जिसमें यह गर्व नहीं, वह पतिव्रता नहीं। एक बार एक लुच्चे ने रास्ते में एक स्त्री को छेड़ा। वह स्त्री छोटी जाति की थी पर उसके ये शब्द मुझे अब तक याद हैं कि 'क्या तू मेरे पति से बहुत सुंदर है ?'

'सम्मान' और 'कृतज्ञता' ऐसे भावों की व्यंजना भी जायसी ने बड़ी ही मार्मिक भाषा में कराई है। बादल जब राजा रत्नसेन को दिल्ली से छुड़ाकर लाता है तब पद्मिनी बादल की आरती-पूजा करके कहती है—

यह गजगवन गरब सौं मोरा। तुम राखा बादल औ गोरा ।।
सेंदुर तिलक जो आंकुस अहा। तुम राखा माथे तौ रहा ।।

काछ काछि तुम जिउ पर खेला। तुम जिउ आनि मंजूसा मेला ॥
राखा छात, चँवर औधारा। राखा छुद्रघंट झनकारा ॥

राजा रत्नसेन के बन्दी होने पर नागमती जो विलाप करती है उसके बीच पद्मिनी के प्रति उसकी झुँझलाहट कितनी स्वाभाविक है, देखिए—

पदमिनि ठगिनि भई कित साथा। जेहि ते रतन परा पर हाथा ॥

शोक के दो प्रसंग 'पद्मावत' में आए हैं—पहला रत्नसेन के जोगी होने पर, दूसरा रत्नसेन के मारे जाने पर। इनमें से पात्र द्वारा व्यंजना पहले ही प्रसंग में है, दूसरे में केवल करुण दृश्य का चित्रण है। रत्नसेन के जोगी होकर घर से निकलने पर रानियाँ जो विलाप करती हैं उसमें पहले सुख के आधार के हटने का उल्लेख है फिर उससे उत्पन्न विषाद की व्यंजना है—

रोवहि रानी तजहि पराना। नोचहि बार करहि खरिहाना ॥
चूरहिं गिउ अभरन उर हारा। अब का पर हम करब सिंगारा ॥
जा कहुँ कहहिं रहसि कै पीऊ। सोइ चला, काकर यह जीऊ ॥
मरै चहहि पै मरै न पावहि। उठै आगि सब लोग बुझावहि ॥

रसज्ञों की दृष्टि में यहाँ करुण रस की पूरी व्यंजना है क्योंकि विभाव के अतिरिक्त रोना और बाल नोचना अनुभाव और विषाद संचारी भी है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, राजा रत्नसेन के मरने पर कवि ने जिस करुण परिस्थिति का दृश्य दिखाया है वह अत्यन्त प्रशांत और गंभीर है। रानियों के मुख से क्षुब्ध आवेग की व्यंजना नहीं कराई गई है, केवल पद्मिनी के उस समय के रूप की झलक दिखाकर परिस्थिति की गंभीरता का आभास दिया गया है—

पदमावति पुनि पहिरि पटोरी। चली साथ पिय कै होइ जोरी ॥
सूरुज छिपा रैनि होइ गई। पूनिउँ ससी अमावस भई ॥
छूटे केस, मोति लर छूटी। जानहुँ रैनि नखत सब टूटी ॥
सेंदुर परा जो सीस उघारो। आगि लागि चह जग अँधियारो ॥

सूर्यरूपी रत्नसेन अस्त हुआ। पद्मावती के पूर्णचन्द्र मुख में एक कला भी नहीं रह गई। पहले एक स्थान पर कवि कह चुका है कि 'चाँदहि कहाँ

जोति औ करा ? सूरुज के जोति चाँद निरमरा'। जब सूर्य ही नहीं रहा, तब चन्द्रमा में कला कहाँ से रह सकती है ? काले केश छूट पड़े हैं, मोती बिखर कर गिर रहे हैं—अमावस्या की अँधेरी छा गई है जिसमें नक्षत्र इधर-उधर टूटकर गिरते दिखाई पड़ते हैं। वह घने काले केशों के बीच सिंदूर की रेखा दिखाई पड़ी—अब घोर अंधकार के बीच आग भी लगा चाहती है—सती की ज्योति से सारा जगत् जगमगाया चाहता है।

देखिए पद्मिनी के तात्कालिक रूप में ही कवि ने प्रस्तुत करुण परिस्थिति की गंभीरता की पूर्ण छाया दिखा दी है। पद्मिनी सारे जगत् के शोक का स्वच्छ आदर्श हो गई है जिसमें सारे जगत् के गंभीर शोक का प्रशांत स्वरूप दिखाई पड़ता है। कुछ काल के लिए पद्मिनी के सहित सारा जगत् शोक-सागर में मग्न दिखाई पड़ता है। फिर पद्मिनी और नागमती दोनों इस दुःखमय जगत् से मुँह फेरती हैं और उस लोक की ओर दृष्टि करती हैं जहाँ दुःख का लेश नहीं—

दोउ सोति चढ़ि खाट बईठी। औ सिवलोक परा तिन्ह दीठी ॥

इस जगत् से दृष्टि फेरते ही सारे दुःखद्वंद्व छूट गए हैं। अब न झगड़ा और कलह है, न क्लेश और न संताप। दोनों सपत्नी एक साथ मिलकर दूसरे लोक में पति से जा मिलने की आशा से परिपूर्ण और शांत दिखाई पड़ती हैं और सती होने जा रही हैं। आगे-आगे बाजा बजता चलता है। यह प्रेममार्ग की विजय का बाजा है—

एक जो बाजा भएउ बियाहू। अब दुसरे होइ ओर निबाहू ॥

रत्नसेन की चिता तैयार है। दोनों रानियाँ चिता की सात प्रदक्षिणा करती हैं। एक बार जो भाँवरी (विवाह के समय) हुई थी उससे इस संसार-यात्रा में रत्नसेन का साथ हुआ था, अब इस भाँवरी से परलोक के मार्ग में साथ हो रहा है—

एक जो भाँवरि भई बियाही। अब दुसरै होइ गोहन जाहीं ॥
जियत, कंत ! तुम हम्ह घर लाई। मुए कंठ नहिं छाँड़हि साँई ॥
अही जो, गाँठि कंत ! तुम जोरी। आदि अंत लहि जाइ न छोरी ॥
एहि जग काह जो अछहि न आथी। हम तुम नाह ? दुवौ जग साथी ॥

सतियों के मुख पर आनन्द की शुभ्र ज्योति दिखाई पड़ती है। इस लोक से मुँह मोड़ अव वे दूसरे लोक के मार्ग के द्वार पर खड़ी हैं। इस लोक की अग्नि में अव उन्हें क्लेश और ताप पहुँचाने की शक्ति नहीं रही है। उनके लिए वह सवसे शीतल करने वाली वस्तु हो गई है क्योंकि वह पतिलोक का द्वार खोला चाहती है। हिन्दू सती का यह कैसा गंभीर, शांत और मर्ममदी उत्सव है।

आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़।
आजु नाचि जिउ दीजिय, आजु आगि हम्ह जूड़ ।।

फिर क्या था ?

लेइ सर ऊपर खाट विछाई। पाँढ़ी दुवौ कंत गर लाई ।।
लागि कंठ आगि हिय होरी। छार भई जरि अंग न मोरी ।।

क्रोध का प्रसंग केवल वहाँ आया है जहाँ राजा रत्नसेन को अलाउद्दीन की चिट्ठी मिलती है। पर वहाँ भी रौद्ररस का विस्तृत संचार नहीं है। क्रोध का वह आवेश नहीं जिसमें नीति और विचार का पता नहीं रह जाता। चिट्ठी पढ़ी जाने पर—

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहु देव तड़पि घन गाजा ।।
का मोहि सिंघ देखावसि आई। कहौं तौ सारदूल धरि खाई ।।
तुरुक जाइ कहु मरै न धाई। होइहि इस कंदर कै नाई ।।

पर इस उग्र वचन के उपरांत ही राजा अलाउद्दीन के संदेश के औचित्य-अनौचित्य की मीमांसा करने लगता है—

भलेहि जौ साह भूमिपति भारी। माँग न कोउ पुरुष कै नारी ।।

रस की रस्म के विचार से तो उपर्युक्त वर्णन पूरा ठहर जाता है क्योंकि इसमें अनुभाव के रूप में डाट-डपट और उग्र वचन तथा संचारी के रूप में अमर्ष मौजूद है। यहीं तक साहित्य के आचार्यों ने आत्मावदान कथन अर्थात् अपने मुँह से अपनी वड़ाई को भी रौद्ररस का अनुभाव कहा है। आगे वह भी मौजूद है—

हौ रनथंभउर नाथ हमीरू। कलपि माथ जेइ दीन्ह सरीरू ।।
हौ सो रतनसेन सम्वंधी। राहु बेधि जीता सैरंधी ।।

हनुमत सरिस भार जेइ काँधा। राघव सरिस समुद जेइ बाँधा ।।
विक्रम सरिस कीन्ह जेइ साका। सिंहलदीप लीन्ह जौ ताका ।।
जौ अस लिखा, भयहु नहिं ओछा। जियत सिंघ कै गह को मोछा ।।

पर यह सामग्री होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि रौद्र रस का परिपाक जायसी में नहीं है। न तो अनुभावों और संचारियों की माला ही यथेष्ट है, न स्वरूप ही पूर्ण स्फुट है। जायसी का कोमल भावपूर्ण हृदय उग्र वृत्तियों के वर्णन के उपयुक्त नहीं था।

वीर रस का वर्णन अच्छा है। अलाउद्दीन के चित्तौड़ घेरने पर तो केवल सेना की सजावट और तैयारी, चढ़ाई की हलचल तथा युद्ध की घमासान के वर्णन में ही कवि रह गया है, युद्धोत्साह की व्यंजना किसी व्यक्ति द्वारा नहीं कराई गई है। उत्साह की व्यंजना गोरा-बादल के प्रसंग में हमें मिलती है। पद्मिनी के विलाप पर दोनों वीरों ने कैसी क्षात्रतेज से भरी प्रतिज्ञा की है—

जौ लगि जियहि न भागहि दोऊ। स्वामि जियत कित जोगिन होऊ ।।
उए अगस्त हस्ति जब गाजा। नीर घटे घर आइहि राजा ।।
बरषा गए अगस्त कै दीठी। परै पलानि तुरंगन पीठी ।।
बेधौं राहु छोड़ावहुँ सुरू। रहै न दुख कर मूल अंकुरू ।।

इसको कहते हैं उत्साह—आशा से भरी हुई साहस की उमंग। अगस्त के उदय होने पर, नदियों और नालों का जल जब घटने लगेगा तब बंदीगृह से छूटकर राजा अपने घर आ जायेंगे। शरत्काल आते ही चढ़ाई हो जायगी।

बादल की माता जब हाथियों की रेलपेल और युद्ध की भीषणता दिखाकर उसे रोकना चाहती हैं, तब वह कहता है—

मातु न जानेसि बालक आदी। हौं बादला सिंघ रन बादी ।।
सुनि गज जूह अधिक जिउ तपा। सिंघ जाति कहुँ रहहिं न छपा ।।
तब दलगंजन गाजि सिंघेला। सौंह साह सौं जुरौं अकेला ।।
को मोहि सौंह होइ मैमंता। फारौ सूँड़, उखारौं दंता ।।
जुरौं स्वामि सँकरे जस ढारा। औ भिवँ जस दुरयोधन मारा ।।
अंगद कोपि पाँव जस राखा। टेकौं कटक छतीसौ लाखा ।।
हनुमत सरिस जंघ बल जोरौं। दहौ समुद्र, स्वामि बंदि छोरौं ।।

इसी प्रकार के उत्साहपूर्ण वाक्य वृद्ध वीर गोरा के हैं जब वह केवल हजार कुँवर लेकर बादशाह की उमड़ती हुई सेना को रोकने खड़ा होता है। ऐसे वाक्यों में अपने बल का पूर्ण निश्चय और समुपस्थित कर्म की अल्पता का भाव प्रधान हुआ करता है। इस वीरदर्प को उत्साह का मुख्य अवयव समझना चाहिए। देखिए इस उक्ति में कैसा अमर्षमिश्रित वीरदर्प है—

रतनसेन जो बाँधा, मसि गोरा के गात।
जौ लगि रुहिर न धोवौं, तव लगि होइ नरात॥

हास्य और वीभत्स—ये दो रस ऐसे हैं जिनमें आलम्बन के स्वरूप से ही कवि-परम्परा काम चलाती है, आश्रय द्वारा व्यंजना की अपेक्षा नहीं रहती। वस्तुवर्णन के अन्तर्गत युद्धवर्णन में डाकिनियों आदि का वीभत्स दृश्य दिया जा चुका है। जैसा कहा जा चुका है, भय के भी आलम्बन का ही चित्रण कवि ने किया है। हास्य रस का तो 'पद्मावत' में अभाव ही है।

अब एक विशेष बात पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करके इस भावव्यंजना के प्रकरण को समाप्त करता हूँ। एक स्थायी भाव दूसरे स्थायी भाव का संचारी होकर आ सकता है, यह बात तो ग्रन्थों में प्रसिद्ध ही है। पर रीतिग्रंथों में जो संचारी कहे गये हैं उनमें से भी कुछ ऐसे हैं जो कभी-कभी स्थायी बनकर आते हैं और दूसरे भावों को अपना संचारी बनाते हैं। जायसी एक छोटा-सा उदाहरण देते हैं। जब पद्मावती ने सुना कि सपत्नी नागमती के बगीचे में बड़ी चहल-पहल है और राजा भी वहीं बैठा है तब—

सुनि पदमावति रिस न सँभारी। सखिन्ह साथ आई फुलवारी॥

यह रिस या अमर्ष स्वतंत्र भाव नहीं है, क्योंकि पद्मावती का कोई अनिष्ट नागमती ने नहीं किया था। यह 'असूया' का संचारी होकर आया है, क्योंकि यह 'असूया' से उत्पन्न भी है और रस की दृष्टि से उससे विरुद्ध भी नहीं पड़ता। एक संचारी का दूसरे संचारी का स्थायी बनकर आना लक्षण ग्रंथों के अभ्यासियों को कुछ विलक्षण अवश्य लगेगा। किसी दूसरे स्थल पर हम कुछ संचारियों को विभाव, अनुभाव और संचारी तीनों से युक्त दिखायेंगे।

उक्त उदाहरण में यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार 'असूया' रति-भाव का संचारी होकर आया है उसी प्रकार 'अमर्ष' भी। इस अमर्ष का सीधा

लगाव 'असूया' से है न कि रति से। यदि असूया न होती तो यह अमर्ष न होता। अब प्रश्न उठता है कि यदि किसी स्थायी भाव का संचारी भी विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त हो तो क्या वह भी स्थायी कहा जायगा। स्थायी तो अवश्य होगा पर ऐसा स्थायी नहीं जो रसावस्था तक पहुँचने वाला हो। इन सब बातों का विवेचन मैं कभी अन्यत्र करूँगा, यहाँ इतना ही दिग्दर्शन बहुत है।

कृष्ण-भक्ति शाखा के महान स्तम्भ

महाकवि सूरदास

हिन्दी साहित्य की कृष्ण-भक्ति शाखा में महाकवि सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। इनके जीवन-वृत्त के विषय में निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। इनके जन्म के समय, स्थान, वंश, परम्परा, आदि बातों को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। अनुमान के आधार पर ही इनका जन्म सन् १४७८ के आसपास और मृत्यु सन् १५८३ के लगभग मानी जा सकती है। वल्लभाचार्यजी के जीवन के अन्तिम भाग में ये उनके सम्पर्क में थे। इस बात को लेकर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है कि ये जन्मान्ध थे अथवा बाद में किसी प्रकार नेत्र-हीन हो गए थे।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी के द्वारा संस्थापित अष्टछाप के कवियों में सूरदासजी का स्थान सर्व-प्रमुख है। ये भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे और महाप्रभुजी की आज्ञा से इन्होंने श्रीकृष्ण लीला का सरस गायन किया। इनका महान् ग्रन्थ सूर-सागर श्रीमद्भागवत के आधार पर रचा गया है। यह भागवत का अनुवाद-मात्र नहीं है। सूर की मौलिक उद्भावना और प्रतिभा ने सूर-सागर में भागवत की मूल रूपरेखा का विशाल और अप्रतिम उपबृंहण किया है। इसमें सवा लाख पद बताए जाते हैं। पर सूर-सागर के लगभग ५ हज़ार पद ही उपलब्ध हैं। 'साहित्य लहरी' और 'सूर-सारावली' इनके अन्य ग्रन्थ हैं। पर इन ग्रन्थों का प्रामाण्य संदिग्ध है।

सूर की जीवनी और व्यक्तित्व

—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

भक्तिकालीन कवियों के व्यक्तिगत जीवन की घटनाएँ आज बहुत कम ज्ञात हैं। भक्ति-काल के कवि केवल कवि ही नहीं थे, वे अपने आराध्य देव के महान् प्रेमी भक्त थे। उनकी प्रेम-तन्मयता की पराकाष्ठा उच्च कोटि की थी, उन्हें अपने विषय में कहने का जीवन-भर अवकाश ही न मिला। उनका व्यक्तित्व और स्वार्थ अपने प्रिय द्वारा निर्मित सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हो गया था। उनके संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों ने भी उनकी जीवनी बहुत ही कम लिखी है।

यही बातें सूर सागर के रचयिता सूरदासजी के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। सूरदासजी ने अपने विषय में अपने ग्रन्थों में कुछ विशेष नहीं कहा। कहीं-कहीं जो कुछ उल्लेख आये हैं, वे प्रसंगवश आ गए हैं। इन उल्लेखों को पढ़कर हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि वे वाक्य उन्होंने अपने लिए कहे हैं अथवा उनमें उन्होंने साधारण जन की मनोवृत्ति का परिचय दिया है।

उनकी रचनाओं के अतिरिक्त अन्य लेखकों द्वारा लिखी रचनाओं में भी सूरदासजी की जीवन-घटनाएँ थोड़ी-बहुत मिल जाती हैं। इनमें गो० गोकुलनाथजी लिखित '८४ वैष्णवों की वार्ता', 'अष्ट सखान की वार्ता,' हरिराय कृत 'भाव प्रकाश' और मियाँसिंह का 'भक्त विनोद' आदि हैं।

जन्म-तिथि

सूरदासजी की जन्म-तिथि पर हम विचार करें तो उसका उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। स्वयं सूरदासजी ने भी इस विषय में कुछ नहीं कहा है। 'सूर सारावली' के १००२वें पद में आयु-सम्बन्धी एक पंक्ति मिलती है तथा 'साहित्य लहरी' के एक पद में इसी ग्रन्थ के रचना-काल का निर्देश किया गया है, जो दृष्टकूट रूप में होने के कारण विवाद का विषय बना हुआ है। उपर्युक्त दोनों उल्लेखों को लेकर विद्वानों ने सूरदास की भिन्न-भिन्न जन्मतिथियाँ

निश्चित की हैं।

'सूर सारावली' का पद है :

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिवविधान तप कियो वहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

इस पद के आधार पर समस्त विद्वान् 'सूर सारावली' की रचना के समय सूरदासजी की आयु ६७ वर्ष निश्चित करते हैं। परन्तु श्री मुंशीराम शर्मा अपना भिन्न मत प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि इन पंक्तियों के कुछ पहले व पश्चात् आई हुई पंक्तियों को साथ पढ़ने से उपर्युक्त पंक्तियाँ 'सूर सारावली' की रचना के समय की नहीं मालूम होतीं। आचार्यजी से दीक्षित होने पर सूरदासजी को जब श्रीकृष्णजी के दर्शन हुए थे तब की लिखी मालूम होती है, वे पीछे से 'सारावली' में संग्रहीत कर ली गई होंगी।[1]

निवेदन है कि 'सूर सारावली' का उपर्युक्त पद दीक्षा के समय का बनाया हुआ नहीं मालूम होता। सर्वप्रथम तो यही कहा जा सकता है कि उसका उल्लेख ८४ वैष्णवों की वार्ता में कहीं नहीं है, जो सूर-आचार्य-मिलन वर्णन करने वाला एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। वार्ता में लिखा है कि आचार्यजी की विशेष कृपा होने पर सूरदासजी को दो अवसरों पर भगवद्लीलाओं का दर्शन हुआ। इस अवसर पर सूरदासजी ने जो पद गाये हैं उनका उल्लेख वार्ता में किया हुआ है। इसमें 'सूर सारावली' की उपर्युक्त पंक्तियाँ कहीं भी नहीं दिखाई देतीं। यथा—

"तब सूरदासजी ने भगवल्लीला वर्णन करी। अनुक्रमणिका ते सम्पूर्ण लीला फुरी सो क्यों जानिये। दशम स्कन्ध की सुबोधिनी में मंगलाचरण को प्रथम कारिका किये हैं...और ताही समय श्री महाप्रभु के सन्निधान पद किये। सो पद। राग बिलावल। चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग। यह पद सम्पूर्ण करिके सूरदासजी ने गायौ।...पाछें सूरदासजी ने नन्द महोत्सव कीयौ। सो श्री आचार्य महाप्रभून के आगे गायो। राम देन गन्धार। ब्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी। ...पाछें श्री आचार्यजी महाप्रभून ने सूरदास जी को पुरुषोत्तम सहस्र नाम सुनायो तब सूरदासजी को सम्पूर्ण भागवत्

---

१. 'सूर-सौरभ', पृ० ६, भाग-१।

स्फुरना भई । पाछें जो पद कियो सो श्री भागवत प्रथम स्कन्ध ने द्वादश स्कन्ध ताई कियो ।[1]

'सूर सारावली' का 'गुरु-परसाद' वाला पद यदि इसी समय का होता तो कदाचित् वार्ताकार उसे अवश्य उद्धृत करते । वे पंक्तियाँ लिखने में उन्हें बड़ा लाभ होता । वह यह कि एक अनुभवी सन्त द्वारा शैव-भक्ति से वैष्णव-भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शन तथा उनके गुरु श्री वल्लभाचार्यजी की शक्ति का परिचय । सम्भव है 'सूरसागर' की रचना के समय तथा पश्चात् 'सारावली' की रचना में उन्हें लीलाओं का स्फुरण होता रहा हो, और उसे गुरु प्रसाद का प्रभाव समझकर अपने को धन्य मानकर सूरदास गाते फिरते हों ।

ऐसी परिस्थिति में हम 'सूर सारावली' का उपर्युक्त पद अन्य पुष्ट प्रबल प्रमाणों की अनुपस्थिति में सारावली की रचना के समय का मानने के पक्ष में हैं।

दूसरा पद 'साहित्य-लहरी' में मिलता है, वह इस प्रकार है :

पुनि पुनि रसन के रस लेख ।
दसन गौरी नन्द को लिखि, सुबल संबल पेख ।।
नद-नंदन मास छै तैं हीन तृतिया बार ।
नद-नंदन जनमते हैं आन सुख आगार ।।
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन ।
नंद-नंदनदास हित साहित्य-लहरी कीन ।।

उपर्युक्त पद में केवल 'रसन' शब्द ही विवाद का विषय बना हुआ है। कोई रसन का अर्थ रस से हीन अर्थात् शून्य कहकर 'साहित्य-लहरी' का निर्माण-काल सं० १६०७ निश्चित करते हैं ।[2] कोई रसना अर्थात् जिह्वा कहकर उसके १ कार्यानुसार (वाक्) १ संख्या का व्राची मानते हैं तथा साहित्य-लहरी १६१७ सम्वत् में रची मानते हैं । परन्तु श्री मुन्शीराम शर्मा रसना का अर्थ उसके कार्यानुसार (स्वाद और वाक्) मानकर २ का संख्यावाची मानते है और 'साहित्य-लहरी' का निर्माण-काल १६०७ सं० निश्चित करते हैं ।[3]

---

१. 'अष्टछाप', डा० धीरेन्द्र वर्मा ।
२. 'सूरदास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १४० ।
३. 'सूर-सौरभ' भाग-१ ।

श्री मुन्शीरामजी ने अपनी पुष्टि के लिए ज्योतिष का भी आधार लिया है। वे सुवल-सम्वल को वृषभ सम्वत् का पर्यायवाची मानते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि वृषभ सम्वत् १६०७ अथवा १६१७ में न पड़कर १६२७ में ही पड़ता है। परन्तु केवल पर्याय के आधार पर सुबल-सम्वल को वृषभ सम्वत् स्थिर करना पुष्ट प्रमाण प्रतीत नहीं होता।

'साहित्य-लहरी' के पद में उसकी समाप्ति के दिन वैशाख की अक्षय तृतीया रविवार कृतिका नक्षत्र और सुकर्म योग लिखा गया है। यह दिन गणित करने पर सम्वत् १६०७ अथवा १६०७ की अपेक्षा १६१७ में ही आता है। इसलिए पद में प्रयुक्त रसन शब्द का अर्थ '१' मानकर ही 'साहित्य-लहरी' का रचना काल १६१७ मानना चाहिए[1]।

इस प्रकार अब तक के उपलब्ध प्रमाणों से 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सम्वत् १६०७ अथवा १६१७ माना जाता है।

'सूर सारावली' ६७ वर्ष की आयु में तथा 'साहित्य-लहरी' उपर्युक्त तीन विभिन्न सम्वतों में रची गई—जब विद्वानों ने यह निश्चित कर लिया, तब कुछ विद्वानों ने 'सूर सारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' को एक साथ की रचना (सम्वत् १६०७) कहकर सूरदासजी का जन्म सम्वत् १५४० निश्चित किया[2]। परन्तु इसका कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया कि वे दोनों ग्रन्थ एक साथ कैसे लिखे गये ? केवल अनुमान से ही एक साथ १-२ वर्ष के अन्तर से संग्रहीत होना मान लिया[3]। सम्भव है कि दोनों ग्रन्थ उपर्युक्त कालों में संग्रहीत हुए हों, परन्तु विना पुष्ट प्रमाणों के यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

श्री नलिनीमोहन सान्याल ने लिखा है कि "चैतन्य महाप्रभु का जन्म सं० १४८५ (सम्वत् १५४२) में हुआ था। कुछ प्रमाण मिले हैं कि महात्मा सूरदास का जन्म चैतन्य महाप्रभु के जन्म के १ वर्ष पहले हुआ था[4]। इस तरह

---

१. 'सम्मेलन-पत्रिका' पौष २००६।
२. 'सूरदास', पं० रामचन्द्र शुक्ल १४०-१४१।
३. 'संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न', श्री मिश्रबन्धु, पृष्ठ ८८-८९।
'सूरदास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १४०।
४. 'भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास', श्री न० मो० सान्याल, पृष्ठ ६।

श्री सान्यालजी के अनुसार सूरदास का जन्म सम्वत् १५४०-४१ के आस-पास ठहरता है। परन्तु श्री सान्यालजी ने अपनी पुस्तक में अपने कथन का कोई भी प्रमाण नहीं दिया।

उपर्युक्त दो अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर हम सूर की जन्म-तिथि निश्चित नहीं कर सके, इसलिए अब उसका निर्णय हम बहिःसाक्ष्य के आधार पर करेंगे।

पुष्टि सम्प्रदाय में सूरदासजी आचार्यजी से दस दिन छोटे माने जाते हैं। इसका सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण 'निज वार्ता' है।[1] इनके १० दिन छोटे होने का उल्लेख अन्य पुराने भक्तों व लेखकों ने भी किया है। इनमें श्री द्वारिकेश जी, श्री रसिकदासजी व श्री जमुनादासजी उल्लेखनीय हैं। अभी हाल में डाक्टर दीनदयाल गुप्त ने नाथद्वारे में यही खोज की है।[2]

श्री आचार्यजी का जन्म सं० १५३५ वैशाख कृष्ण ११ रविवार को हुआ था। अतएव सूरदासजी की जन्म-तिथि १५३५ वैशाख शुक्ला ५ को ठहरती है।

बड़ौदा कालिज के संस्कृत के प्रो० श्री भट्टजी ने आचार्य के जीवन विषयक समस्त ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध किया है कि आचार्यजी का जन्म संवत् १५३० मानना अधिक युक्तिसंगत है, संवत् १५३५ शंकाओं से परे नहीं है[3]।

यदि यह बात सत्य है तो फिर सूरदासजी का भी जन्म-काल हमें संवत् १५३० मानना पड़ेगा।

---

१. 'सो श्री आचार्य जी सों दिन दस छोटे हुते।' ('निजवार्ता', श्री गोकुलनाथ जी)

२. 'सूर-निर्णय', लेखक श्री प्र० द० मीतल तथा श्री द्वा० ना० पारीख, पृष्ठ ५२-५३।

३. The evidence in support of the year 1473 A.D. is earlier and stronger and can easily outweigh the evidence in support of 1479 A.D. which is decidedly later and weak." (The Birth-date of Ballabhacharya, the Advocate of Suddhadvait Vedant, by Prof. Bhatt of Baroda College, from 9th All India Oriental Conference, Trivendrum, P. 60)

वंश-परिचय और जाति

'साहित्य लहरी' में एक पद सूरदास के वंश-परिचय का मिलता है : इससे उनके विषय में कई घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। वह पद इस प्रकार है :

प्रथम ही प्रभु जागते भे प्रकट अदभुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
तासु वंस प्रसंस में भे चन्द चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हैं ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीन्हों प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुन चन्द ता सुत सील चन्द सरूप।
वीर चन्द प्रताप पूरन भयो अदभुत रूप॥
रंतभौर हमीर भूपति संग लेखन जात।...आदि

इस पद से मालूम होता है कि पृथु यज्ञ से एक ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई। उसी वंश में पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्दबरदाई हुए। चन्दबरदाई की सन्तानों का नाम देते हुए सूरदास ने अपने पिता का नाम न जाने क्यों नहीं दिया। इस पर श्री मुन्शीराम का कहना है कि उनके पिता ने अपने छः पुत्रों को युद्ध में भेजकर और स्वतः मुसलमान बनकर उस कायरतापूर्ण वृत्ति का परिचय दिया था जो परम्परा से चली आई हुई वीर कीर्ति-सम्पन्न कुल में महान् कलंक और लज्जा का कारण हुआ। इसलिए सूरदास ने उनका नाम न लिखना ही उचित समझा हो[1]।

उपर्युक्त वंशावली के अनुसार सूरदासजी के ६ बड़े भाई थे तथा सूरदास ७वें सबसे छोटे थे। इनके सब भाई बड़े शूरवीर, प्रतापी एवं महान् रण-धुरन्धर थे तथा स्वभाव से गम्भीर भी थे। यही बात भक्ति क्षेत्र में हम सूरदासजी में पाते हैं। उन्होंने अंधे होकर भी कुल का नाम संसार मे उज्ज्वल कर दिया।

इस वंशावली में सूरदास का नाम सूरजचन्द है। अन्धे होने के कारण मानव स्वभाव में जो एक दैन्य की भावना आ जाती है उसी का अनुसरण करके कदाचित सूरदासजी ने अपना शोभाशाली नाम बदलकर दैन्य भावयुक्त

१. 'सूर-सौरभ', भाग-१, लेखक श्री मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ १६।

सूरदास रख लिया हो । इनके सब भाई तत्कालीन शाह से युद्ध करते-करते वीर गति को प्राप्त हुए । हमारे सूरदासजी अन्धे होने के कारण कुछ न कर सके । इसका उन्हें अपार दुःख हुआ । वे दुःख के मारे असहाय जहाँ-तहाँ घूमते फिरते थे । एक दिन अचानक कुएँ में गिर पड़े । ६ दिन भूखे-प्यासे रहने के पश्चात् श्रीकृष्णजी ने उनका उद्धार किया, दिव्य चक्षु देकर अपना दर्शन कराया तथा वरदान माँगने को कहा । सूरदासजी ने स्वभाव से ही शत्रु-नाश करने वाली भक्ति की याचना की तथा जिन आँखों से श्याम-सुन्दर का लोक-पावन रूप देखा उनसे फिर नश्वर संसार दिखाई न दे ऐसा वर माँगा । श्रीकृष्णजी ने 'एवमस्तु' कहकर इच्छा पूर्ण की तथा उनकी हृदयाग्नि को शान्त करने के लिए कहा—

> "प्रबल दक्षिण विप्र-कुल तें सत्रु ह्वै है नास ।
> अखिल वुद्धि विचारि विद्या मान मानै सास[1] ।।

सूरदासजी कहते हैं कि मेरा नाम सूरदास व सूर-श्याम रखकर श्याम सुन्दर अन्तर्धान हो गए । इसके पश्चात् सूरदासजी व्रज गये जहाँ उन्हें अष्ट-छाप में स्थान मिला ।

पद की प्रथम पंक्ति में 'पृथु-जाग' शब्द भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न पाठान्तर से मिलता है । कहीं तो वह 'पृथ जगाते' है तो कहीं 'पृथ जगात' । इसी पाठ को लेकर कई विद्वानों ने इसे चन्दबरदाई का गोत्रवाचक कहकर उन्हें पार्थज गोत्रा होना मान लिया[2] । अन्य विद्वानों ने जगात का अर्थ जगातिया अर्थात् भाट लगाया । परन्तु वास्तव में पाठ ही जब भ्रमात्मक है तब जाति कहाँ तक ठीक हो सकती है । इसके स्थान पर 'पृथु जाग' ही ठीक होगा । यही पाठ कई विद्वानों ने मानकर इसे गोत्र या जाति-सूचक नहीं माना है[3] ।

---

१. 'सूर सारावली' का वंश-परिचय वाला पद ।
२. 'संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न', श्री मिश्रवन्धु ।
'भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास', श्री नलिनीमोहन सान्याल ।
३. 'सूरदास', श्री रामचन्द्र शुक्ल ।
'सूर सौरभ', श्री मुन्शीराम (प्र० खं०) ।

इन पंक्तियों के आधार पर सूरदासजी की जाति कैसे निश्चित कर दी जाय यह एक विवाद का विषय है ? कई विद्वान् 'सूर सारावली' के इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। प्रक्षिप्त मानने के अन्यान्य कारणों में से एक कारण उसमें उल्लिखित "प्रवल दक्षिण विप्र कुल तें शत्रु ह्वै है नास" यह पंक्ति है। श्री शर्माजी जहाँ विप्र-कुल का अर्थ आचार्यजी का कुल तथा 'शत्रु' का अर्थ काम क्रोधादि शत्रुओं के समूह को मानते हैं, वहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री मिश्रवन्धु विप्र-कुल का अर्थ पेशवा मानते हैं । हमारा अनुमान है कि 'साहित्यलहरी' में यह पद पीछे किसी भाट द्वारा जोड़ा गया है इसे सूर के कालान्तर की रचना बता रही है। 'प्रवल दच्छिन विप्रकुल तें' से पेशवाओं की ओर संकेत है, इसे खींच-तानकर आध्यात्मिक पक्ष की ओर मोड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है[1]।

सूरदास अपने भाइयों की युद्ध में वीर-गति से अत्यन्त दुखी होकर यहाँ-वहाँ भटक रहे थे। इसी दुःख में कुएँ में गिर जाने से असहाय अवस्था में शत्रुओं को पानी पी-पीकर कोस रहे होंगे। श्रीकृष्णजी ने उनकी सान्त्वना के लिए यदि पेशवाओं द्वारा मुसलमानों के नाश की सूचना देकर हृदय शान्त किया हो तो कोई आश्चर्य की वात नहीं। पेशवाओं का युद्ध सूरदास के लगभग २०० वर्ष पश्चात् हुआ। इसीलिए उपर्युक्त पद सूर द्वारा रचा जाना असम्भव है। २०० वर्ष पश्चात् घटने वाली घटना का उल्लेख उपर्युक्त पद की प्रामाणिकता में बाधक सिद्ध हो रहा है। हमारा विचार है कि उनसे लगभग २०० वर्ष पीछे पेशवाओं का अभ्युदय और मुगलों का पतन देखकर किसी ब्रह्म भट्ट ने लगभग वाजीराव के समय में ये छन्द बनाकर सूरदास की कविता में रख दिए।[2]

इस पद को श्री मुन्शीरामजी सूरदास का ही लिखा हुआ मानकर उन्हें 'वरदाई' का वंशज तथा ब्रह्म राव और ब्रह्म भट्ट निश्चित करते हैं। 'भट्ट' से 'भाट' कैसे हुआ तथा वे ब्राह्मण क्यों थे, इसका उन्होंने प्रमाण भी दिया है। इस तरह सूरदास को ब्राह्मण सिद्ध किया है।[3]

---

१. 'सूरदास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १४३।
२. 'संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न', मिश्रवन्धु।
३. 'सूर सौरभ', १ ला भाग, पृष्ठ १६-१७।

ऐसे ही एक वंशावली म० म० पं० हरप्रसादजी शास्त्री को राजपूताना में प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों की खोज करते समय मिली थी। वह वंशावली उन्हें नागौर-निवासी नानूराम भाट के पास प्राप्त हुई, जो अपने को चन्दवरदाई का वंशज घोषित करते हैं। शास्त्रीजी इसे प्रामाणिक मानते हैं।

यह वंशावली 'साहित्य लहरी' में दी हुई वंशावली से मिलती है, केवल अन्तर इतना ही है कि 'साहित्य लहरी' के अनुसार जो परम्परा गुणचन्द से प्रारम्भ होती है वही नानूराम भाट वाली वशावली में जल्लचद से प्रारम्भ होती है।

दोनों वंशावलियों के विषय में आचार्य शुक्लजी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में विवेचन किया है[1]। परन्तु कौन-सी वंशावली ठीक है कौन-सी भ्रामक, अथवा दोनों ही भ्रामक हैं, सूरदास चन्दवरदाई के वंशज हैं अथवा नहीं, इस विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा।

सर जार्ज ग्रियर्सन, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, मुन्शी देवीप्रसाद आदि 'साहित्य लहरी' के पद को ठीक मानकर सूरदास को चन्दवरदाई का वंशज मानते हैं। आगरा का 'एजुकेशनल गजट' व कल्याण का 'योगांक' भी उन्हें चन्दवरदाई का वंशज मानते हैं।

जहाँ एक ओर उपर्यक्त मत है वहाँ दूसरी ओर गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोस्वामी यदुनाथजी तथा विट्ठलनाथजी के ही सेवक श्रीनाथ भट्ट ने तथा इन्हीं के समकालीन प्राणनाथ कवि ने सूरदास को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखा है[2]। ये सूरदास के समकालीन थे, अतः इनके लेखों पर उपर्युक्त विद्वानों से अधिक विश्वास किया जा सकता है।

'भविष्य पुराण' भी उन्हें चन्द्रभट्ट वंश का लिखता है[3]। यदि सूरदास को चंदवरदाई का वंशज माना जाय तो चंदबरदाई को या तो ब्राह्मण होना चाहिए या सूरदास को भाट। परन्तु दोनों ही बातें प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर तथ्यपूर्ण नहीं सिद्ध होतीं।

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४४ से ४८ तक।

२. 'ततो व्रज समागमते सारस्वत सूरदाससोऽनुगृहीतः।' (वल्लभ दिग्विजय, पृष्ठ ५०)

३. 'सूरदास इति ज्ञेयः कृष्ण लीलाकरः कविः।
शंभुर्वै चंद्रभट्टस्य कुले जातो हरि प्रियः॥'
(भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व, तृतीय भाग, २२वां अध्याय, श्लोक ३३वां)

सूरदास के पिता

सूरदास के पिता का नाम न तो उपर्युक्त पद में है और न उनके जीवन सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में। 'आइने-अकबरी' में अकबर के दरबारी गायकों तथा कवियों के नाम हैं। इनमें ग्वालियर-निवासी रामदास व उनके पुत्र सूरदास का नाम है। इस बात को लेकर कई लोगों ने 'सूरसागर' के रचयिता सूरदास को अकबर का दरबारी कवि होना व रामदास का उनका पिता होना मान लिया है। 'आइने-अकबरी' में रामदास को वैरागी कहा गया है। सूरदास भक्त होने से वैरागी थे ही। अतएव 'वैरागी' शब्द के आधार पर ही रामदास को सूरदास का पिता मान लिया गया है।

अकबर सम्वत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। इसके कई वर्ष पहले हमारे सूरदास आचार्य के शिष्य हो चुके थे। आचार्य का वैकुण्ठ-गमन सं० १५८७ में हुआ अर्थात् अकबर के गद्दी पर बैठने के कई वर्ष पहले वे शरणापन्न हो चुके थे। शरण में आने के पहले वे विरक्त अवस्था में गौ-घाट पर रहते थे। भाव 'प्रकाश' और 'भक्त-विनोद' के अनुसार वे बाल्यकाल में ही विरक्त हो गए थे। अकबर के गद्दी पर बैठने के समय तो सूरदास काफी वृद्ध हो चुके थे तथा उनके मन की वृत्ति उत्कट वैराग्य की ओर थी। ऐसी परिस्थिति में हम सूरदार का दरबारी कवि होना नहीं मान सकते, और न उनके पिता का नाम ही रामदास था।

इसके सिवा वार्ता के अनुसार अकबर ने सूरदास को अपने दरबार में गाने के लिए बुलाया था, यदि हमारे सूर और रामदास के पुत्र सूरदास एक ही होते तो अकबर को उन्हें बुलाने की क्या आवश्यकता थी ?

श्री मुन्शीराम शर्मा ने पं० नानूराम से प्राप्त वंशावली में सूर के पिता का नाम रामचन्द्र दिया है, उसी को वैष्णवों में 'रामदास' होना अनुमान किया है।[1] परन्तु एक तो यह विशुद्ध अनुमान ही है तथा नानूराम वाली वंशावली को अप्रामाणिक सिद्ध किया जा चुका है।

---

1. 'सूर सौरभ', पृष्ठ १५।

सूरदास की अंधता

सूरदास जन्मान्ध थे अथवा पश्चात् अन्धे हुए इस विषय पर अभी विद्वानों में मतभेद है परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि 'सूरसागर' तो आचार्य से दीक्षित होने के पश्चात् लिखा गया है। उनके विनय के पदों में यत्र-तत्र अन्धे होने के उल्लेख हैं :

यहै जिय जानि के अन्ध भव त्रास तैं।
सूर कामी कुटिल सरन आयो ॥[१]
सूरदास सौं कहा निहोरौं नैनन हूँ की हानि।[२]
सूर कूर आँधरो, मैं द्वार परयौ गाऊँ।[३]
कर जोरि सूर बिनती करे, सुनहुत हो रुकमिनी खन।
कटौ न फंद मो अंध के, अब बिलंब कारन कवन ॥[४]
सूरदास अंध अपराधी, सो काहे बिसरायो।[५]
ऐसी अंध अधम अविवेकी खोटनि खरत खरे।[६]
इतन-उत देखत जनम गयो।
या झूठी माया के कारण दुहूँ दृग अंध भयो।[७]

इन पदों के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि सूरदास अन्धे थे, परन्तु यह निश्चित नहीं कह सकते कि वे जन्मान्ध थे अथवा बाद में अन्धे हुए। क्रमांक २-३ में की पंक्तियों से ऐसा भासित होता है कि सूरदासजी के जीवन में ऐसी कोई घटना घटी होगी जिससे संसार से उत्कट वैराग्य हो जाने के कारण अथवा किसी विषय-भोग के सीधे फलस्वरूप उनकी आँखों की ज्योति चली गई हो।

---

१. 'सूर सागर', १।५।
२. 'सूर सागर' १।३३५।
३. 'सूर सागर' ६।१६६।
४. 'सूरसागर' १।१८०।
५. 'सूरसागर' १।१९२।
६. 'सूरसागर' १।१९८।
७. 'सूरसागर' १।१९५।

कई विद्वानों ने बिल्वमंगल सूरदास के जीवन की वह घटना, जिसमें वेश्या के प्रति उत्कट वैराग्य हो जाने के कारण सूरदास को आँखें फोड़ लेनी पड़ी थीं, इन्हीं 'सूरसागर' के रचयिता सूरदास से सम्बन्धित बताई है[१]। यदि वह बात सत्य मान ली जाए तो क्रमांक ३ में उद्धृत पंक्तियाँ इस घटना से लागू हो सकती हैं। परन्तु बिल्वमंगल सूरदास बनारस के पास कृष्णवेना के निवासी थे, अतएव उपर्युक्त घटना हमारे सूरदास के जीवन में नहीं घटी।

इनके अन्धे होने का बाह्य साक्ष्य कुछ ग्रन्थों में मिल जाता है :

"जन्म अंध दृग ज्योति विहीना" (भक्त विनोद)
"जनमहि ते हैं नैंन विहीना" (रामरसिकावलि)

सूरदास अन्धे थे, इस वचन की पुष्टि में विद्वानों को उपर्युक्त पंक्तियाँ मान्य हैं, परन्तु वे जन्मान्ध थे इस बात पर वे विश्वास नहीं करते। इन लोगों का मत है कि 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में कहा है कि उन्होंने चौपड़ खेलते हुए लोगों को देखकर कहा "सो वा चौपड़ में एते लीन हैं जो कोऊ आवते-जावते की सुधि नाहीं···जो देखो वह प्राणी कैसो अपनो जनमारो खोवत है।"[२]

इस प्रसंग के आधार पर वे सूर को जन्मांध नहीं मानते।

साथ ही उनके काव्य में रंगों, हावों-भावों, जीवन तथा शरीर के सूक्ष्म व्यापारों, प्रकृति के विविध क्रिया-कलापों का जो वर्णन है, वह जन्म से अन्धे व्यक्ति के द्वारा होना दुःसाध्य है।

इस तर्क को कम से कम सूरदास जैसे पहुँचे हुए भक्त के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण मान लेना ठीक नहीं। स्वयं सूरदासजी ने अपने पदों में भगवान की अघटित घटना घटाने वाली शक्ति पर आस्था प्रकट की है[३]। यह आस्था सूरदास जैसे अनुभवी ब्रह्मदर्शी महात्मा ने प्रकट की है। इसकी पुष्टि 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से भी हो जाती है "इनके हृदय में स्वरूपानन्द को अनुभव है। तासौं तुम जैसो शृंगार करोगे सो तैसो ही पद सूरदास वर्णन करिकैं

---

१. 'संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न, श्री मिश्रबन्धु।
२. अष्टछाप, सं० श्री धीरेन्द्र वर्मा (सूरदास की वार्ता में चौथी वार्ता)।
३. 'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे को सब कुछ दरसाई।' (सूर सागर १।१।)

गावैंगे ।" प्राचीन ब्रह्मवादी मुनियों ने आत्मा की सर्वज्ञता के अनुभव वेदों, उपनिषदों एवं पुराणों में लिख रखे हैं । आधुनिक युग में भी स्वयं सूर के गुरु वल्लभ भी पुष्टि-प्राप्त भक्त को सर्वज्ञ मानते हैं ।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में आचार्य से दीक्षा लेने का प्रसंग है "तब सूरदासजी अपने स्थल तें आय कै श्री आचार्य जी महाप्रभून को दर्शन को आये तब श्री आचार्य जी प्रभून ने कह्यो जो सूरदास आवो बैठो । तब सूरदास श्री आचार्य जी महाप्रभून को दर्शन करिके आगे आय बैठे ।" केवल महाप्रभून के दर्शन के आधार पर हम उन्हें इस समय चक्षुयुक्त नहीं कह सकते, क्योंकि आगे चलकर भी कई स्थानों पर वर्णन आया है कि वे श्री नवनीत प्रिया के दर्शन करने जाया करते थे जब कि इस समय वे अन्धे थे ही । मृत्यु के समय भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के दर्शन का उल्लेख है ।

इसी वार्ता के अन्तर्गत वार्ता क्रमांक ३ में सूर ने देशाधिपति को एक पद सुनाया जिसकी अन्तिम पंक्ति थी "हो जो सूर ऐसे दरस को मरत लोचन प्यास" । अकबर ने पूछा "जो सूरदास जी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाहीं सो प्यासे कैसे मरत हैं ।" इस प्रश्न का उत्तर सूरदास जी ने कुछ भी नहीं दिया। परन्तु कहा जाता है कि बिना उत्तर के ही अकबर को समाधान हो गया ।

इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि यद्यपि सूरदास अन्धे थे तो भी उन्हें दिव्य चक्षु से सब कुछ दिखाई देता था ।

श्री शर्मा का मत है कि गोटों की ध्वनि, पौ बारह आदि को सुनकर अनुमान से तो साधारण अन्धा व्यक्ति भी कह सकता है कि चौपड़ हो रही है। सूर तो पहुँचे हुए महात्मा थे । "वे भगवद्-भक्त थे । अघटित घटना घटाने वाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ़ रहस्य भी अनवगत नहीं रहते । जन्मांध नाभा जी, प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द जी, स्वामी पूर्णानन्द जी तथा ऐसे ही अन्य अनेक सन्तों ने मानव-लीलाओं एवं भावनाओं का अनुभव किया हुआ सा वर्णन किया है । वास्तव में कवि एवं महात्माओं के दिव्य नेत्रों में हमारे नेत्रों से महान अन्तर रहता है ।"[१]

---

१. 'सूर-सौरभ', खंड १ ।

श्री मीतल जी ने उपनिषद्, सूर के पद, पौराणिक महापुरुषों के वाक्य, वल्लभ के दर्शन आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा है : "अतः हमें मानना होगा कि सूरदास महाप्रभु की कृपा से तत्त्वज्ञानी और आत्मा में रति करने वाले पूर्ण भक्त हो चुके थे। स्वयं प्रकाश हो गए थे, अतएव वाह्य चक्षुओं के आश्रित नहीं थे। उन्होंने जो कुछ भी वर्णन किया है वह अपनी आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति के आधार पर किया है।"[१]

इस समस्त चर्चा से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाएँ अन्धे की अवस्था में की थीं तथा यदि वे जन्म से अन्धे रहे हों तो भी वैसी रचना करना उन्हें असम्भव न था। वे जन्मान्ध थे अथवा नहीं इसका स्पष्टीकरण उपर्युक्त विवेचन से अभी नहीं हो सका है। इसके लिए हमें वाह्य साक्ष्य का ही सहारा लेना पड़ेगा।

(१) सूरदास के ही समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने सूरदास को जन्मान्ध कहा है।[२]

(२) प्राणनाथ कवि ने भी इन्हें जन्मान्ध कहा है—

बाहर नैन विहीन सो भीतर नैन विसाल।
जिन्हें न जग कछु देखिवौ लखि हरि रूप निहाल॥

(३) ऊपर 'राम-रसिकावली' एवं 'भक्त-विनोद' की पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, जो उनके जन्मान्ध होने की साक्षी हैं।

(४) हरिराय जी ने अपने 'भाव प्रकाश' में जन्मान्ध को सूर तथा जन्म के पश्चात् कभी भी अन्धे होने वाले को अन्धा कहा है तथा सूर को 'सो सूरदास को जनम ही सों नेत्र नाहीं हैं" कहकर जन्मान्ध कहा है।

(५) अभी हाल ही में प्रकाशित 'सूरदास निर्णय' में सूरदास के कुछ ऐसे पद खोजकर उद्धृत किये गये हैं जो उनके जन्मान्ध होने का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। यदि ये पूर्णतः प्रामाणिक सिद्ध हो जाते हैं तब तो यह विवाद सदा के लिए मिट जायगा। उन पदों की पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

---

१. 'सूर-निर्णय, पृष्ठ' ६४ से ६७ तक।
२. जन्मांधो सूरदासोऽभूते (संस्कृत मणिमाला)।

१. सूर की विरियाँ निठुर होइ बैठे, जन्म अंध कर्‌यो ।[1]

२- रहो जात एक पतित जनम को आँधरों सूर सदा को ।[2]

३- करमहीन जनम को अंधो मो तें कौन न कारौ ।[3]

उपर्युक्त समस्त प्रमाण उनका जन्मान्ध होना सिद्ध करते हैं। इसके विरोध में ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि वे जन्मान्ध न थे। केवल उनके काव्य के वर्णित विषयों और वस्तुओं के आधार पर उन्हें जन्मान्ध नहीं माना जाता, जो विशुद्ध अनुमान है और प्रमाणों से अपुष्ट है।

प्रारम्भिक जीवन

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में सूरदास जी के प्रारम्भिक जीवन के विषय में कुछ भी नहीं मिलता। जब से उन्होंने आचार्य जी का शिष्यत्व ग्रहण किया तब से आगे की जीवन-घटनाओं का ही उसमें उल्लेख है। इससे पहले की घटनाएँ हरिराय जी-लिखित 'भाव प्रकाश' तथा मियसिंह-रचित 'भक्त विनोद' में मिलती हैं। दोनों में कुछ भी साम्य नहीं दिखाई देता। 'भाव-प्रकाश' में वर्णित घटनायें सत्य मानी जायँ तो 'भक्त-विनोद' की कल्पित पड़ जाती हैं। दोनों की घटनायें नीचे दी जाती हैं।

'भाव प्रकाश' में सूरदास जी को ब्राह्मण कुलोत्पन्न बताया गया है। इनका जन्म दिल्ली के पास सीही ग्राम में हुआ था।[4] पिताका का नाम नहीं दिया गया है। इन्होंने शुकदेव के समान जन्म से ही संसार के बन्धनों को तोड़ कर वैराग्य धारण कर लिया था। घर-बार छोड़कर दूर किसी गाँव के बाहर एक घने और हरे-भरे वृक्ष के नीचे रहने लगे। यहाँ ये आयु के १८ वर्ष तक रहे।

---

१. सूर निर्णय, पृष्ठ ७४।

२. सूर निर्णय, पृष्ठ ७५।

३. सूर निर्णय, पृष्ठ ७६।

४. सीही को कई विद्वान् पहले मथुरा में मानते थे, परन्तु एक तो 'भाव प्रकाश' में स्पष्ट उसकी स्थिति दिल्ली के पास बताई है तथा विट्ठलनाथ जी के समकालीन कवि प्राणनाथ ने अपने ग्रन्थ 'अष्ट सखामृत' में यही स्थल माना है। आज के प्रायः सभी विद्वानों को यही मत मान्य है।

ये लोगों को ज्योतिष के आधार पर फल बताया करते थे, जो प्राय: सत्य निकलता था। आस-पास के लोगों को इन पर बहुत श्रद्धा हो गई थी। यहीं रह कर इन्होंने संगीत भी सीखा।

ख्याति बढ़ने से लोग दूर-दूर से आकर शिष्य बनने लगे। आने वाले लोग इन्हें धन आदि अर्पण करते जिस पर इनका पेट पलता था। एक दिन इन्हें संसार में फँसने का ध्यान आया। इसका इन्हें दुःख हुआ। सम्पत्ति को स्वप्नवत् त्यागकर एक दिन ये उस गाँव से चले गए तथा कुछ दिन मथुरा रहकर गौ घाट पर स्थायी रूप से रहने लगे।। यहाँ इनका विद्याध्ययन तथा संगीत का अभ्यास चलता रहा। यहाँ ये ३१ वर्ष की अवस्था तक रहे।

'भक्त-विनोद' के अनुसार ये पिछले जन्म में यादव जाति के थे जब कि इन्हें वृन्दावन धाम देखने की उत्कट इच्छा हुई। इच्छा पूर्ण होने का वरदान मिला। आगामी जन्म में मथुरा प्रान्त में किसी ब्राह्मण के यहाँ उत्पन्न हुए। ये जन्म से ही अन्धे थे और बाल्य-काल से ही सूरदास नाम से प्रसिद्ध थे। एक समय माता-पिता वृन्दावन की यात्रा करने गये, सूरदास का वहाँ इतना मन रमा कि वे लौटने को तैयार नहीं हुए। वहीं सत्संग, भगवद्-सेवा में समय बिताने लगे। अन्धे होने के कारण एक दिन घूमते हुए किसी कुएँ में गिर पड़े। किसी ने इनकी खोज-खबर न ली। भगवान् ने अन्त में करुणावश इनका उद्धार किया। बाहर निकालकर वे हाथ छुड़ाकर भागने लगे। इस पर सूरदास जी ने कहा :

अब तो बलकरि छोर कर चले निबल कर मोहि।
हिय मन तें टूटो न जब, तब देखौं प्रभु तोहि॥

अपने भक्त के व्यंग्य-वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने हस्त-स्पर्श मात्र से उनकी आँखें खोल दीं। दर्शन पाकर सूर को महान आनन्द हुआ। उन्होंने श्रीकृष्ण से वरदान माँगा कि जिन नेत्रों से आपको देखा उनसे अब संसार देखने की इच्छा नहीं। भगवान् ने 'तथाऽस्तु' कहकर आँखें बन्द कर दीं।

इसके पश्चात् की घटनायें 'साहित्य लहरी' के वंश-परिचय वाले पद में कूप-पतन की घटना से प्रारम्भ होती हैं। दोनों में कूप-पतन का कारण दिया है परन्तु दोनों का कारण भिन्न है। कौन-सा प्रामाणिक है, कहा नहीं जा सकता।

दीक्षा के पश्चात्

आचार्यजी से दीक्षित होने के पश्चात् का जीवन 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में दिया है। भगवान का वरदान प्राप्त करके सूरदास जी स्थायी रूप से गौघाट पर रहने लगे। वहाँ वे नित्य विनय के पद गाया करते थे।

तृतीय यात्रा के समय दक्षिण-दिग्विजय प्राप्त करने के पश्चात वल्लभाचार्य जी स्थायी रूप से गृहस्थाश्रम स्वीकार करके अड़ेल में रहने लगे थे। इसी समय उन्होंने आचार्य पद ग्रहण किया।

'वार्ता' के अनुसार एक समय उन्हें अड़ेल से व्रज जाना था। यात्रा में वे गौ घाट पर ठहरे। वहाँ सूरदास की ख्याति सुनकर मिलने की इच्छा प्रकट की। सूर ने आचार्य के पांडित्य एवं दिग्विजय की प्रशंसा सुनी थी, उनसे सहर्ष मिलने चले गए।

मिलने पर आचार्य जी ने उन्हें कुछ गाने को कहा। सूरदास जी ने विनय के दो पद सुनाए। सुनकर आचार्य ने कहा कि सूर होकर ऐसे घिघियाते क्यों हो ? कुछ भगवान् की लीलाओं का वर्णन करो। सूर ने कहा : "जो महाराज हौं तो समझत नाहीं।" तब आचार्य जी ने उन्हें सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा दी तथा भागवत् के दशम स्कन्ध की संक्षेप में कथा सुनाई : तातें सूरदास जी को नवधा भक्ति सिद्ध भई। तब सूरदास जी ने भगवत लीला वर्णन करी ; अनुक्रमणिका तें सम्पूर्ण लीला फुरी··· और ताही समय श्री महाप्रभून के सन्निधान पद कियो।। सो पद, राग बिलावल। चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।

आचार्य अपने साथ सूर को गोकुल ले गये। वहाँ नवनीतप्रिया के दर्शन कराये। वहाँ भी सूरदास ने कुछ पद गाए : "सोभित कर नवनीत लिए।" यहाँ आचार्य जी ने भागवत् की सम्पूर्ण लीला सूर के हृदय में स्थापित कर दी। कुछ दिन यहाँ रहने के पश्चात् आचार्य व्रज गये। वहाँ गोवर्धन पर स्थापित श्रीनाथ जी के सूर को दर्शन कराये। तब सूर ने पद सुनाया : "अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।" फिर से विनय का पद सुनकर आचार्य ने कहा—अब तो तुम्हारे हृदय में कुछ अविद्या रही नहीं, अब कुछ भगवान के यश का वर्णन करो। तब सूर ने कहा "कौन सुकृत इन व्रज-वासिन को।" यह पद

गाया। आचार्य प्रसन्न हुए, तथा सूर को मन्दिर का कीर्तन-भार सौंप दिया।

दीक्षा का समय

इतना तो निश्चित है कि सूरदास श्रीनाथजी की स्थापना के पश्चात् तथा आचार्य की अड़ेल से व्रज की यात्रा के समय गौ-घाट पर आचार्य के शिष्य हुए थे। यह यात्रा दक्षिण-दिग्विजय के संवत् १५६५ के पश्चात् हुई थी।

श्रीनाथजी का स्थापना-संवत् भी निश्चित नहीं है। श्री धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि "संवत् १५५२ की श्रावण सुदी ३ बुधवार को श्रीनाथ जी की स्थापना गोवर्धन के ऊपर एक छोटे से मन्दिर में हुई। सं० १५५६ की चैत्र सुदी २ को पूर्णमल्ल खत्री ने बड़ा मन्दिर बनवाने का संकल्प किया...एक लाख रुपये खर्च करने पर भी अर्थाभाव के कारण वह अपूर्ण ही रहा। बीस वर्ष पश्चात् जब पूर्णमल्ल खत्री को व्यापार में तीस लाख रुपये का लाभ हुआ तब इसी वर्ष सं० १५७६ में अधूरा मन्दिर पूरा हुआ, तथा वल्लभाचार्य जी ने इस मन्दिर में श्रीनाथजी की स्थापना की[1]।" इस तरह श्रीनाथ जी के मन्दिर बनने की तीन तिथियाँ हमारे सम्मुख हैं। श्री धीरेन्द्रजी श्रीनाथ की स्थापना तिथि १५७६ मानते हैं।

आचार्य शुक्लजी ने भी स्थापना-तिथि संवत् १५७६ मानी है तथा इसी के पश्चात् आचार्यजी की निधन-तिथि संवत् १५८७ और सूरदास का शरण-काल संवत् १५८० माना है[2]। यही तिथि अन्य विद्वानों ने भी मानी है[3]। परन्तु श्री मीतल ने श्रीनाथ की स्थापना संवत् १५५६ में मानी है[4]। दक्षिण-दिग्विजय संवत् १५६५ में तथा अड़ेल में गृहस्थाश्रम स्वीकार करने के पश्चात् एक समय श्रीनाथ जी की मन्दिर-व्यवस्था के लिए व्रज जाते हुए मार्ग में सूर का शिष्य होना बताया है[5]।

---

१. श्रीनाथ जी का इतिहास, श्री धीरेन्द्र वर्मा।
२. सूरदास, पं० शुक्ल जी, पृष्ठ १३८।
३. सूर सौरभ, श्री मुन्शीराम शर्मा तथा संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न, श्री मिश्रबन्धु।
४. अष्टछाप परिचय।
५. सूर निर्णय, पृष्ठ ८४।

उपर्युक्त बात की पुष्टि में उन्होंने 'वल्लभ-दिग्विजय' का उल्लेख करते हुए कहा है कि जब वे ब्रज से अड़ेल वापिस आ गए तब गोपीनाथ जी का जन्म हुआ। यह जन्म संवत् १५६७ माना जाता है। इस यात्रा में उन्हें साल छः महीने अवश्य लगे होंगे। अतएव सूर का शरण-काल संवत् १५६७ ही ठहरता है।

१५७६ के शरण का खण्डन उन्होंने सूर के "श्री वल्लभ दीजँ मोहि वधाई" पद के आधार पर किया है। आपका कहना है कि यह पद सूर ने विट्ठलनाथ जी के जन्म के समय बनाया था। विट्ठलनाथ जी का जन्म संवत् १५७२ का है। इसके पहले वे अवश्य शरण गए होंगे, तभी तो यह पद गाया है।

अकबर से भेंट

श्रीनाथ जी का कीर्तन करते हुए सूर ने सहस्रों पद बनाए। सूर की प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई। तत्कालीन भारत-सम्राट् अकबर ने भेंट की इच्छा प्रदर्शित की। भेंट के समय अकबर ने सूरदास से अपना यशोगान सुनना चाहा तब सूर ने 'मना तू करि माधो सो प्रीति' गाया। अकबर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला कि मुझे परमेश्वर ने इतना बड़ा राज्य दिया है, सब मेरा यश गाते हैं, तुम भी कुछ गाओ[1]। तब सूरदास ने 'नाहिन रह्यो मन में ठौर' यह गाया। तदनन्तर सूरदास विदा लेकर मन्दिर में आ गए।

'राम रसिकावली' के लेखक ने भेंट का स्थान दिल्ली माना है परन्तु कोई भी विद्वान इसे मानने को तैयार नहीं है। कोई-कोई भेंट का स्थान फतहपुर सीकरी मानते हैं, परन्तु यहाँ कुम्भनदास से भेंट हुई थी, सूर से नहीं।

'मुन्शियात अबुलफ़ज़ल' अबुलफ़ज़ल के लिखे समय-समय पर के पत्रों का संग्रह है। इनमें एक पत्र ऐसा है जो अबुलफ़ज़ल ने बनारस के सूरदास को लिखा था। सूरदास को बनारस का करोड़ी कष्ट देता था जिसकी शिकायत दरबार में की गई थी जिसके उत्तर में उपर्युक्त पत्र था। इस पत्र में सूरदास को शिकायत करने व बादशाह से मिलने प्रयाग आने को कहा है।

---

१. 'अष्टछाप' (सूरदास की वार्ता), सं० श्री धीरेन्द्र वर्मा।

बा० राधाकृष्णदास के अनुसार बनारस व ब्रज के सूर एक ही हैं तथा सूर-अकबर की प्रयाग में भेंट हुई थीं।

अकबर सम्वत् १६०० तथा संवत् १६६१ में प्रयाग गया था। संवत् १६४० के लगभग तो सूरदास का देहान्त हो चुका होगा, यदि जीवित भी मान लिया जाए तो आयु के १०० वर्ष में एक वयोवृद्ध विरक्त महात्मा का शिकायत करना तथा इतने बूढ़े को अकबर का प्रयाग बुलवाना अस्वाभाविक मालूम होता है।

श्री मद्भागवत् की अणुभाष्य भूमिका में संवत् १६२८ के लगभग अकबर का मथुरा जाना लिखा है। हरिराम जी ने अपनी वार्ता की टीका में भेंट का स्थान मथुरा लिखा है। 'अष्ट सखान की वार्ता' में लिखा है कि अकबर को जब सूर से मिलने की इच्छा हुई तब उनकी खोज के लिए गोवर्धन पर एक चर भेजा गया, ज्ञात हुआ कि सूरदास जी मथुरा गए हैं।

संवत् १६२३ में विट्ठलनाथजी गोवर्धन से कहीं बाहर चले गए थे। इसी समय उनके पुत्र गिरिधर जी श्रीनाथ को मथुरा ले गए। साथ में सूर भी चले गए। संवत् १६२१ में तानसेन दरबारी गायक हुए। इन्हीं की प्रेरणा से अकबर ने सूर से मिलना चाहा था। अत: हम कह सकते हैं कि संवत् १६२३ और संवत् १६२८ के बीच अकबर और सूरदास की भेंट मथुरा में हुई होगी।

सूर-तुलसी-मिलन

संवत् १६१६ के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथ जी जगन्नाथ पुरी की यात्रा को गए। साथ में सूरदास जी भी थे। रास्ते में कामतानाथ पर्वत पर सूर ने तुलसी से भेंट की। बाबा बेनीमाधवदास जी ने इसका कुछ पंक्तियों में वर्णन किया है :

सोलह सो सोलह लगे कामद गिरि ढिग बास।
शुचि एकांत प्रदेश मँह आये सूर सुदास ॥···आदि
(मूल गोसाईं-चरित)

अष्टछाप में स्थापना

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने जब पुष्टि-सम्प्रदाय का आचार्यत्व ग्रहण किया तब संवत् १६०२ में अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों की एक अष्ट-छाप की स्थापना की जिसमें ४ आचार्य वल्लभ के और ४ इनके शिष्य थे। वे क्रम से इस प्रकार हैं—

(१) सूरदास (२) कुम्भनदास (३) कृष्णदास (४) परमानन्ददास (५) गोविंद स्वामी (६) नन्ददास (७) छीत स्वामी (८) चतुर्भुजदास।

इन आठों कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोच्च था। आज हमें राधा-कृष्ण का जो भी कुछ हिन्दी-काव्य प्राप्त है उसमें अष्टछाप सबसे अधिक सरस, प्रभावशाली, भक्ति से परिपूर्ण व चिरस्थायी है तथा इसमें भी सूरदास जी का 'सूर सागर' सर्वश्रेष्ठ है।

निधन-सम्वत्

जन्म-संवत् के समान ही सूर का निधन-संवत् भी अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है। संवत् १६२० से १६४२ तक लम्बा अन्तर सूरदास का निधन संवत् माना जाता है।

शुक्ल जी १६०७ में 'साहित्य लहरी' का रचना-काल मानकर उससे दो वर्ष पूर्व 'सूर सारावली' का मानते हैं जबकि सूर की आयु ६७ वर्ष की थी। अर्थात् सूर का जन्म १५४० में मानकर अनुमान से ८०-८२ वर्ष की आयु मानकर निधन-सम्वत् १६२० मानते हैं। यही श्री सान्याल जी का मत है।

श्री मुन्शीराम शर्मा कुछ प्रमाणों के आधार पर सूर का सं० १६२० से आगे १६२८ तक जीवित रहना मानते हैं।

(१) पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र की कुछ खोजों से विदित होता है कि श्री विट्ठलनाथ सं० १६१६ से १६२१ तक ब्रज के बाहर यात्रा में रहे। सं० १६२० में रानी दुर्गावती की राजधानी गढ़ा में उन्होंने अपना विवाह किया। गढ़ा से प्रयाग होते हुए सं० १६२२ में मथुरा पहुँचे और सं १६२३ में गुजरात की यात्रा करने चले गये। यदि सं० १६२० में सूरदास की मृत्यु मानी जाए तो गो० विट्ठलनाथ सम्प्रदाय के महान् प्रभावी भक्त व कवि की मृत्यु के पश्चात् उसी

वर्ष कैसे ब्याह करते[1]।

(२) अकबर को सूरदास से मिलने की इच्छा तब हुई जब उन्होंने तानसेन द्वारा सूरदास का एक पद सुना था। तानसेन सं० १६२१ में दरबार में आए। अतः सूरदास सं० १६२१ के पश्चात् भी जीवित थे।

(३) ऊपर अकबर-भेंट के प्रसंग में बताया जा चुका है कि यह भेंट मथुरा में सं० १६२३ के पश्चात् हुई, अतएव सूर १६२३ के पश्चात भी जीवित थे।

(४) 'श्रीमद्‌भागवत्' के अणुभाष्य की भूमिका से ज्ञात होता है कि अकबर सं० १६२८ में काशी गया। हरिराय जी ने वार्ता की टीका में काशी में ही भेंट का होना लिखा है। सं० १६२६ में अकबर को पुत्र हुआ था। सम्भव है इसी खुशी में तीर्थ यात्रा के लिए अकबर निकल पड़ा हो तथा सूर से मथुरा में भेंट हो गई हो। इस हिसाब से सूर का जीवित होना सं० १६२८ तक अनुमानित होता है।

(५) गो० विट्ठलनाथजी का स्थायी ब्रज-वास सं० १६२८ है। वार्ता से ज्ञात होता है कि इस समय श्रीनाथ जी के कीर्तन से अवकाश मिलने पर कभी-कभी नवनीतप्रिया जी के दर्शनार्थ गोकुल जाया करते थे। यह बात 'अष्टसखान की वार्ता' से भी पुष्ट होती है। इससे सिद्ध होता है कि सं० १६२८ तक सूरदासजी जीवित थे।[2]

कुछ अन्य विद्वान् इससे भी आगे संवत् १६६० तक सूरदास का जीवित रहना मानते हैं।[3]

श्री मीतल जी ने कृष्णदास का एक 'वसन्त' क्रीड़ा का पद उद्‌धृत किया है जिसमें अष्टछाप के खिलाड़ियों में सूरदास का भी नाम है। साथ ही गोसाईं के पुत्र घनश्याम का भी नाम है। ये सं० १६२८ में हुए थे। इन की आयु वसन्त के समय कम से कम १० वर्ष मानकर सूरदासजी का सं० १६३८ में

---

१. इस ब्याह का समय 'अष्टछाप परिचय' में १६२० सं० बताया है। पृष्ठ १२।
२. 'अष्टछाप परिचय', पृष्ठ ८४-९३।
३. 'सूर निर्णय', पृष्ठ ९६ से १०२।

जीवित रहना सिद्ध किया है[1]। इसी तरह सूरदास का एक राज-भोग वाला पद भी उद्धृत किया है। इसे श्री मीतल नवनीतप्रिया के राज-भोग के समय गाया हुआ बताते हैं। यह राज-भोग सादे जेवनार के रूप में १६४० में हुआ था। अतएव सूरदास सं० १६४० तक उपस्थित थे।[2]

इस तरह सूरदास का निधन सं० १६२० से लेकर १६४० तक माना जाता है। सं० १६२० वाला मत शुद्ध अनुमान के आधार पर स्थापित किया हुआ है अतएव उसके पश्चात् सूर का निधन कब हुआ यह नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त अनुमानों से उनका सं० १६४० तक जीवित रहना सिद्ध किया जाता है।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में सूरदास जी के मरण-काल का वर्णन दिया गया है। गो० विट्ठलनाथजी श्रीनाथजी का पूजन, श्रंगार आदि करते तब सूरदास पद गाकर सुनाया करते थे। एक दिन सूरदास जी को आप ही से ज्ञात हो गया कि मुझे अब संसार छोड़ना है। इसलिए रास-लीला के स्थान पारसौली में चले गए। वहाँ श्रीनाथजी के मन्दिर की ध्वजा को दंडवत् करके आचार्य जी का स्मरण करते हुए इस आशा से लेट गए कि अन्त समय में श्रीनाथजी के दर्शन होंगे।

इसी समय गोसाइँ जी ने सूरदास को मणि-कोठा में कीर्तन करते हुए न सुनकर पूछताछ की। भक्तजनों ने सब वृत्तान्त कह सुनाया। गोसाइँ जी समझ गए कि आज सूरदास जी नश्वर शरीर छोड़कर नित्य शाश्वत वृन्दावन धाम जा रहे हैं, उन्होंने वहाँ उपस्थित समस्त भक्तों से कहा कि 'पुष्टि मार्ग का जिहाज जात है जाको कछू लेने होय तो लेउ और जो भगवदिच्छा तें राजयोग आरती पीछें रहत हैं तो मैं हूँ आवत हौं।'[3] गोसाइँजी का आदेश पाकर भक्तजन चले गए तथा पूजा समाप्त करके गोसाइँजी भी आ पहुँचे। पहुँचते ही खबर पूछी। सूरदास ने दण्डवत् करके 'देखो-देखो हरिजू का एक सुभाव' यह पद गाया। पद सुनकर गोसाइँजी प्रसन्न हुए। तब चतुर्भुजदास ने कहा कि सूरदासजी ने

१. वही पृष्ठ ९९।
२. वही, पृष्ठ १००-१०१।
३. चौरासी वैष्णवों की वार्ता।

भगवद्‌यश-वर्णन तो जीवन-भर किया पर महाप्रभून का यश-वर्णन नहीं किया। तब सूरदासजी ने कहा कि मैंने महाप्रभु और भगवान में कुछ अन्तर ही नहीं समझा। दोनों का यश-गान कुछ भिन्न-भिन्न थोड़े ही है। ऐसा कहकर 'भरोसो इन दृढ़ चरणन केरो' यह पद गाया। इसके पश्चात् उन्हें मूर्छा आ गई और उनका 'चित्त श्री ठाकुर जी को श्रीमुख तामें करुणा रस के भरे नेत्र देखे।' तब गोसाईंजी ने सूरदास से पूछा कि तुम्हारे नेत्र की वृत्ति कहाँ है। उत्तर में यह पद सुनाया, जो उनका अन्तिम पद कहा जाता है:

खंजन नैन रूप रस माते।

इस पद की समाप्ति के अनन्तर सूरदासजी ने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया। इसमें तथ्य कहाँ तक है, कहा नहीं जा सकता।

काव्य सौन्दर्य

सूरदास जी का सरसागर केवल काव्य ही नहीं है, वह धार्मिक काव्य भी है। धार्मिक ग्रन्थ की दृष्टि से उसका सम्मान जन-समाज में तो है, किन्तु विद्वानों के बीच अक्सर इस विषय के विवाद उठा करते हैं कि सूरसागर की गणना धार्मिक काव्य ग्रन्थ के रूप में होनी चाहिए या नहीं? धार्मिक काव्य के सम्बन्ध में इन विद्वानों के विचार बहुत कुछ विलक्षण हैं। अधिकांश लोगों का ऐसा ख्याल है कि त्याग, संन्यास और वैराग्य की शिक्षा देने वाली रचनाएँ ही धार्मिक काव्य कहला सकती हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में कबीर और दादू आदि को ही धार्मिक कवि माना जा सकता है। तुलसीदास को हम इस श्रेणी में इसलिए स्वीकार कर लेते हैं कि उन्होंने नीति और मर्यादा-बद्ध राम के उदात्त चरित्र का चित्रण किया है। शेषांश में हम सूर, मीरा आदि की उन रचनाओं को भी धर्मिक काव्य कह लेते हैं जो भजनों के रूप में प्रचलित हो गई हैं तथा जिनमें किसी चरित्र-विशेष का उल्लेख नहीं। किन्तु जब श्रीकृष्ण

के और गोपियों के चरित्रों की बात आती है, तब हमारे विद्वान लोग पशो-पेश में पड़ जाते हैं। वे या तो कृष्ण-गोपी-चरित्र को आत्मा-परमात्मा का रूपक कह कर टाल देते हैं या फिर विरोधी आलोचना करने में प्रवृत्त होते हैं। 'ईश्वर की छीछालेदर' और 'राधा-कृष्ण' के संबंध में निकले हुए व्यंग्यात्मक लेख हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ये दोनों ही दृष्टिकोण सूरदासजी के काव्य और उनकी कलात्मक विशेषताओं के अध्ययन में विशेष रूप से बाधक हैं। इनमें से पहला, जो आरम्भ से ही सारे चरित्र को रूपक मान लेता है, काव्य के द्वारा उत्पन्न किए गए चारित्रिक महत्व और उनके प्रभावों का अनुभव करने का अवकाश ही नहीं देता। कवियों की कलाजन्य विशेषताएँ और काव्य-जन्य उत्कर्ष प्रदर्शित ही नहीं हो पाते, क्योंकि हम तो पहले से ही मान बैठे हैं कि राधा और कृष्ण में से एक आत्मा है और दूसरा परमात्मा। जहाँ मान ही लेने की बात हो, वहाँ कवि और कवि-कर्म की परीक्षा कैसे हो सकती है ? कवि-कवि में जो अन्तर है उसका आकलन कैसे किया जा सकता है और सच तो यह है कि उस दशा में काव्य और कला के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। इसी प्रकार दूसरा दृष्टिकोण जो केवल राधा और कृष्ण के चरित्रों का नाम सुनकर ही चौंक पड़ता है और भड़क उठता है, कवि की रचना का असाहित्यिक दृष्टिकोण कह सकते हैं, क्योंकि इसमें भी काव्य-गुणों के अनुसंधान का प्रयास नहीं है। केवल कथा की बाहरी रूपरेखा सुनकर जो काव्य पर आक्रमण आरम्भ कर देते हैं उन्हें काव्य या कला-विवेचन कौन कहेगा ? कुमारी मरियम को कौमार्य में ही ईसा मसीह उत्पन्न हुए थे। अब यदि केवल इस ऊपरी बात को लें तो कितनी अविश्वसनीय और अपवादजनक यह प्रतीत होगी। किन्तु इसी को लेकर ईसाई कलाकारों ने संसार की श्रेष्ठ-कलाकृतियों-मूर्तियों और चित्रों का निर्माण किया है जिनके दर्शन से हृदय में पवित्र भावना का प्रवाह बह चलता है। इस अवस्था में उस ऊपरी और अपवादजनक बात का क्या मूल्य रहा, और उसी को मुख्यता देने वाले व्यक्तियों की क्या बात हो सकती है ? कथा या कहानी तो बिना खराद का वह ऊबड़-खाबड़ पत्थर है जिस पर कलाकार अपना कार्य आरम्भ करता है। मूर्ति का निर्माण हो जाने पर जब हम उस कला-वस्तु के सामने उपस्थित होते हैं तो क्या उस पत्थर की भी हमें याद आती है जिसे काट-छाँट-

कर सँवारा गया और अशेष परिश्रम व्यय करके मूर्ति बनाई गई हैं ? और क्या मूर्तियाँ भी सब एक-सी ही होती है ? रचयिता की मनोभूमि जितनी ही प्रशस्त और परिष्कृत होगी, जितनी ही सूक्ष्म और उदात्त कल्पनाओं का वह अधिपति होगा, साथ ही तराश के काम में जितना ही निपुण होगा—जितनी बारीकी से जितने गहरे प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखेगा, मानव हृदय के रहस्यों को समझने और तदनुकूल अपनी कलावस्तु का निर्माण करने में वह जितना ही कुशल होगा, उसकी कला उतनी ही उत्तम और प्रशंसनीय कही जायगी। कला-विवेचक का कार्य यह नहीं होता कि वह मूल कहानी या कच्चे माल को देखकर ही कोई धारणा बना ले, अथवा अपने किन्हीं व्यक्तिगत संस्कारों और प्रेरणाओं से परिचालित होकर कोई राय कायम कर ले, बल्कि उसे कला-निर्माण-सम्बन्धी विशेषज्ञता प्राप्त करनी होगी, कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन करना होगा और अन्ततः कवि की मूल समवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना होगा कि वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल अथवा असफल रहा है।

इस दृष्टि से हम सूरदासजी के काव्य का अध्ययन आरम्भ करेंगे। पाठकों को यह विदित है कि सूरसागर ही सूरदासजी का प्रमुख काव्य ग्रन्थ और उनकी कीर्ति का स्थायी स्तम्भ है। सूरसागर में यद्यपि श्रीमद्भागवत की कथा का अनुसरण किया गया है और भागवत के ही अनुसार इसमें भी बारह स्कन्ध रखे गये हैं किन्तु वास्तव में सूरदासजी का मुख्य उद्देश्य श्रीकृष्ण के चरित्र का ही आलेख करना था। इसीलिए उन्होंने एक-चौथाई से भी कम हिस्से में सूरसागर के ग्यारह स्कन्ध समाप्त करके शेष तीन-चौथाई से अधिक भाग एक ही (दशम) स्कन्ध को पूरा करने में लगाया है। यही दशम् स्कन्ध कृष्ण-चरित्र है, जिसमें कवि की काव्य-कला का सर्वाधिक विकास हुआ है। शेष स्कन्धों की रचना को हम परम्परा-पालन अथवा भूमिका-मात्र मान सकते हैं। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि इन ग्यारह स्कन्धों में यत्र-तत्र बिखरे हुए आख्यानों और विचारों को लोग सूरदास जी की अपनी रचना और अपने विचार मानकर उद्धृत करते हैं। वास्तव में सूरदासजी का स्वतन्त्र कौशल और उनकी निजी विचारणा यदि कहीं व्यक्त हुई है तो एक-मात्र दशम स्कन्ध में ही। शेष सभी स्थल अधिकांश श्रीमद्भागवत् के संक्षेप-मात्र हैं। उनसे सूरदास का

सम्बन्ध केवल अनुवादकर्ता का-सा है। इस बात को ध्यान में रखने के कारण अक्सर ऐसे स्थलों और विचारों से सूरदासजी का सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है जिनसे उनका कुछ भी वास्तविक सम्पर्क नहीं। इस गलतफहमी से बचने के लिए ही ऊपर का उल्लेख है।

सूरदासजी का काव्य यद्यपि अधिकतर गीतिबद्ध है, पर साथ ही छोटे-छोटे कथा-प्रसंग और घटनाएँ भी गीतों के भीतर वर्णित हैं। यदि हम सूरसागर के दशम् स्कन्ध को ही लें तो देखेंगे कि श्री कृष्ण के जन्म से लेकर उनके बाल्य और कैशोर वय के चरित्र तथा उनके मथुरा-गमन और कंस वध तक की मुख्य घटनाएँ भी वहाँ संगृहीत हैं। सूरदासजी के काव्य की एक विशेषता यह है कि उसमें एक साथ ही श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी भी मिल जाती है और अत्यन्त मनोरम रूप और भाव-सृष्टि भी। प्रायः मुक्तक गीत ऐसे प्रसंगों को लेकर रचे जाते हैं जिनमें कथा का कोई क्रम-बद्ध सूत्र नहीं मिलता, बल्कि कथा-अंश की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें दूसरे विवरणों का आश्रय लेना पड़ता है। गीत भाग में केवल रूप या सौंदर्य आलेख के टुकड़े, सूक्ष्म मानसिक गतियाँ अथवा किसी विशेष अवसर पर उठने वाले मनोवेगों का प्रदर्शन ही प्राप्त होता है। स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप सौंदर्य और भाव सौंदर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जायं, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गोचारण अथवा गोवर्द्धन-धारण के प्रसंग कथात्मक हैं। किन्तु उन कथाओं को भी सजाकर सुन्दर भाव-गीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौंदर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण में अद्‌भुत सफलता सूरदासजी को मिली है।

कहीं कथोपकथन की नियोजना करके (जैसे दान लीला में) और कहीं कथा की पृष्ठभूमि को ही (उदाहरणार्थ वन में विचरण, अथवा वन से व्रज का लौटना), गीत-रूप में सज्जित करके समय-वातावरण और कथा-सूत्र का हवाला दे दिया गया है। सूरदासजी किसी नाटकीय स्थिति-विशेष अथवा किसी ऐकान्तिक मनोभावना-विशेष से आकर्षित होकर परिचालित नहीं हुए हैं। कृष्ण के सम्पूर्ण बाल-चरित पर ही वे मुग्ध हैं। फलतः वे मुक्तक गीतों के अन्तर्गत सारे कथा-

सूत्र की रक्षा करने में समर्थ हुए हैं। अवश्य जहाँ काव्य अधिक अन्तर्मुख और मनोमय हो उठा है—जैसे वंशी के प्रति उपालम्भ, नेत्रों के प्रति आरोप, विरह, भ्रमर गीत आदि—वहाँ भाव ही कथा-रूप में परिणत हो गए हैं, कथा की पृथक् योजना वहाँ हम नहीं पाते।

अब हम सूरसागर के अन्य आवश्यक अंगों को छोड़कर मुख्य दशम स्कन्ध का अध्ययन आरम्भ करेंगे। वर्षाऋतु भाद्र मास अष्टमी की अँधेरी आधी रात को चन्द्रमा उदय होने के समय कृष्ण का आविर्भाव होता है। सूरदास इस बात का उल्लेख करना नहीं भूले हैं कि आकाश में चन्द्रोदय के समय भी अँधेरा है, किन्तु पृथ्वी पर नवज्योति का आगमन हुआ है। भक्ति-काव्य की परम्परा के अनुसार कृष्ण का चार भुजा धारण करके अवतार लेना सूरदासजी ने भी दिखाया है, किन्तु वह चतुर्भुज मूर्ति भी शिशु-स्वरूप में है और उसके पृथ्वी पर आते ही माता उन अप्राकृतिक चिन्हों को छिपा देती है। बालक कृष्ण अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने आते हैं। कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक क्षणिक और उपयोगी संभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतने गहरे वह नहीं पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पड़े, यद्यपि उस माधुर्य की तह में ऐश्वर्य की एक हल्की आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है।

असम्भव या अलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति को और भी क्षीण करने में सहायक होता है कृष्ण का उसी रात स्थानान्तरित होना, जन्म-स्थान छोड़कर गोकुल पहुँचाया जाना। रास्ते में कृष्ण की ज्योति का न छिपना और बढ़ी हुई यमुना का कृष्ण के पैर स्पर्श करते ही रास्ता दे देना, पिता वसुदेव की प्रसन्नता और उत्साह का सूचक है। साथ ही मानव-व्यापार में प्रकृति के सहयोग की कल्पना भी इसमें है।

असम्भव या आलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति के स्थान पर उसकी एक सहज योजना कृष्ण के गोकुल आने से हो जाती है। वह योजना है कृष्ण के अयोनिज होने की। इसकी बड़ी नैसर्गिक और कलात्मक प्रतिष्ठा की गई है। यह स्पष्ट ही इस प्रकार कि कृष्ण यशोदा के अंगजात नहीं हैं। योनिज सम्बन्ध न होने पर भी यशोदा के मन में परिपूर्ण पुत्र-प्रेम स्थापित होता है। वह इस प्रकार कि कृष्ण यशोदा की अंगजा के स्थानापन्न होकर आए हैं। यशोदा को इसकी सुध नहीं, किन्तु पाठक इसे जाने रहते हैं। इस द्विविधा के द्वारा सौंदर्य की वृद्धि

होती है और आध्यात्मिकता अपने सहज कलात्मक रूप में प्रतिष्ठित होती है।

यशोदा का यह प्रौढ़ावस्था का पुत्र है जब कि माता यौवन की सीमा पर पहुँच कर ठहर चुकी है ओर निराशा के साथ-नीचे ढलना आरम्भ कर रही है। इस सन्धि-काल का स्पर्श करना कृष्ण-काव्य की एक बड़ी कलात्मक सूझ है। कृष्ण के प्रति अकेले और बड़ी साध के बाद पाये हुए पुत्र का प्यार उमड़ पड़ता है। कुमारी मरियम का पुत्र यौवन के अनबींधे आरम्भ का है और यशोदा का पुत्र यौवन के अन्तिम अवशेष क्षण का है। युवती की प्रतिमा दोनों ओर है—एक यौवन के इस पार, दूसरी उस पार। एक का पुत्र आशा के पहले और दूसरी का आशा के पश्चात् प्राप्त होता है।

कृष्ण का व्यक्तित्व कुछ अपने सहज सौंदर्य से, कुछ माता के स्नेहातिरेक के कारण (ये दोनों ही नैसर्गिक अनुपात में हैं इसलिए काव्य के कलात्मक विकास में सहायक भी) तथा शेष कुछ पिता के ग्रामाधिपति होने के कारण (यह एक आकस्मिक अथवा संयोगसिद्ध प्रसंग है, जिस पर अनावश्यक भार कवि ने कभी नहीं चढ़ने दिया) प्रमुख रूप से सामने आता है और अन्त तक निसर्गतः प्रमुख ही रहता है। प्रमुखता तो काव्यों के सभी नायक-मात्र के लिए आवश्यक होती है। किन्तु कृष्ण की प्रमुखता कुछ ऐसी विशेषताएँ रखती है जो आध्यात्मिक काव्य के लिए आवश्यक है। इनमे सबसे पहली और मुख्य विशेषता है चरित्र के अन्तर्गत एक रहस्यात्मक पुट। रहस्यात्मक पुट तो जो भी जितना चाहे रख सकता है, किन्तु काव्य में मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता भी अतिशय आवश्यक होती है। इन दोनों का सामञ्जस्य स्थापित करने में ही धार्मिक अथवा आध्यात्मिक काव्य की सफलता है। कोरे धर्मग्रन्थ और उन्नत धार्मिक काव्य में यही मुख्य अन्तर है कि एक में हमारे विश्वास को असीम मानकर बरता जाता है और दूसरे में हमारे स्वस्थ मानसिक उपकरणों के साथ न्याय किया जाता है। लक्ष्य दोनों का एक ही होता है—चरित्र की अलौकिकता की नियोजना करना, किन्तु इन दोनों की प्रणालियों में सारा अन्तर हुआ करता है।

जिन असाधारण और क्षिप्रवेग से घटी प्रथम दिन की घटनाओं का विवरण हम दे चुके हैं, और साथ ही जिन मानसिक परिस्थितियों और प्रतिक्रियाओं का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, उनके बाद कृष्ण-चरित्र की असाधारणता के लिए जमीन तैयार है, ऐसा कहा जा सकता है। देखना यह है कि यह

असाधारणता अथवा रहस्यात्मकता कितने नैसर्गिक रूप से प्रस्फुटित होती है। कृष्ण-जन्म की बधाई बज चुकी है और विशेष उत्सव मनाये जा चुके हैं। अन्न प्राशन और जन्म-दिन की तिथियाँ बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुई हैं। दिन भर गाँव-भर की भीड़ नन्द के आँगन में रहा करती है, बालक कृष्ण की क्रीड़ाएँ देखने के लिए गोपियों का आवागमन लगा ही रहता है। नन्द का आंगन मणियों का बना है, खम्भे कंचन के हैं, इतनी अतिरिक्त सौन्दर्य-योजना आसानी से खप जाती है।

तीन वर्ष बीतते-ही-बीतते कृष्ण आरम्भ करते हैं चोरी, घर के भीतर नहीं, बाहर समाज में चोरी, गोपियों के घर-घर में माखन और दही की चोरी और उत्पात। चोरी सामाजिक धारणा में एक अपराध है, पाप है। और गोपिकाओं को रोज-रोज तंग करना भी कोई सदाचार नहीं। पर ग्राम के वातावरण और गोपियों की मन:स्थिति में बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-पुण्य-निर्लिप्त दीख पड़ती है। चोरी करते हुए भी वे गोपियों के मोद के हेतु बनते हैं और अपने उत्पातों द्वारा उनके प्रेम के अधिक निकट पहुँचते हैं। पाप-पुण्य-निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किये कैसे होती? अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का यह प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रकृत काव्य वर्णना का अंग बन कर आया है, यही सूरदास की विशेषता है। भक्ति-काव्य का यह कौशल ध्यान देने योग्य है।

कृष्ण के इस स्वाभाविक नटखटपन के साथ जिस रहस्य की सृष्टि हो गई है कवि समस्त काव्य में उसकी रक्षा और प्रवर्द्धन करता रहता है। स्वाभाविकता में अलौकिकता का विन्यास सूरदास की मुख्य काव्य-साधना है। इस साधना में सर्वत्र वे सफल ही हुए हों, यह नहीं कहा जा सकता, कहीं-कहीं वे रूढ़ियों में भी फँस गए हैं, वहाँ काव्य का मनोवैज्ञानिक सूत्र खो गया है, फिर कहीं-कहीं वे परम्परा-प्राप्त 'मान' आदि के विस्तृत विवरणों में इतने व्यस्त हो गए हैं कि उनका रहस्यात्मक पक्ष नीचे दब गया है, ऊपर आ गई है कोरी और स्थूल शृंगारिकता। मैं इन स्थलों को सूरदास के काव्य की आंशिक असफलता मानता हूँ, किन्तु सफलता के स्थल असफलता से कहीं अधिक हैं।

यहाँ मैं असफलता के कुछ हवाले दूँगा। कृष्ण के बाल्य-चरित्र में कतिपय राक्षसों और राक्षसिनियों के वध किये जाने के आख्यान मिलते हैं। कतिपय

विद्वानों ने इन आख्यानों में कृष्ण की शक्तिमत्ता का निदर्शन पाया है। जब से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शक्ति, सौंदर्य और शील की पराकाष्ठा राम के चरित्र में दिखाई है, तब से लोगों ने समझ लिया है कि ये तीनों गुण काव्य चरित्रों के लिए अनिवार्य हैं और जहाँ कहीं अवसर आए इनकी ओर इंगित कर देना चाहिए। यह भ्रान्ति कला की विवेचना में अत्यधिक बाधक हुई है। केवल शक्ति की, सौन्दर्य की अथवा शील की पराकाष्ठा दिखाना किसी काव्य-का लक्ष्य नहीं हो सकता। काव्य का लक्ष्य तो होता है, रस-विशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना। इस काव्य-लक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पड़ता है। फिर तो किसी पात्र में किन्हीं गुणों की योजना कर देना—वे गुण चाहे काव्य-शैली से प्रभावोत्पादक अथवा विश्वसनीय बनाये जा सके हों या नहीं—कवि-कर्म समझा जाने लगता है। वह कलात्मक और काव्यात्मक ह्रास का लक्षण है। कृष्ण के साथ बाल्यावस्था में राक्षस-वध की जो अलौकिक लीलाएँ जुड़ी हुई हैं, जब तक उनका संकेतात्मक मानसिक आधार नहीं मिलता तब तक काव्य की दृष्टि से उनका क्या मूल्य है? कोई यह नहीं कह सकता कि कृष्ण ने वास्तव में वे कार्य नहीं किये थे, किन्तु काव्य-कृति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि असम्भव के आधार पर वह अपना कार्य आरम्भ न करे। प्रतीति के लिए उन मानस-सूत्रों का संग्रह आवश्यक है जो उन घटनाओं को विश्वसनीय ही नहीं, वास्तविक भी बना सकें। काव्य में किसी चरित्र के साथ किसी गुण की पराकाष्ठा नियोजित करना पर्याप्त नहीं है, उसकी प्रतीति की पराकाष्ठा भी नियोजित करनी होती है।

कई राक्षस पक्षी, बछड़े, गधे और आँधी आदि का वेश बनाकर आए थे, कृष्ण के द्वारा उनका पछाड़ा जाना स्वाभाविक रूप से चित्रित है, पर कतिपय आख्यानों में सूरदासजी ने परम्परा का पालन-भर कर दिया है, कथा को कला का स्वरूप देने की चेष्टा नहीं की। ब्रह्मा द्वारा बछड़ों के हरे जाने पर नये बछड़े और गोप-बालक उत्पन्न करने वाला आख्यान, पूतना-वध तथा ऐसे ही अन्य कतिपय प्रसंग अपना सम्यक् मनोवैज्ञानिक आधार सूर के काव्य में नहीं पा सके हैं। इन्द्र का देवताओं-सहित कृष्ण के पास व्रज आना केवल पौराणिक चित्रण है।

इसी प्रकार सूरदासजी के द्वारा चित्रित गोपिका-मान-प्रसंग को भी लीजिए। सूरदासजी ने उसका मूलगत रहस्यात्मक आशय खूब अच्छी तरह समझा था। उन्होंने आरम्भ में बड़े सुन्दर ढंग से इस रहस्य की सूचना दी है। राधा का मान वास्तव में भ्रान्ति-मूलक था। उन्होंने कृष्ण के हृदय में अपनी परछाहीं देखकर यह समझ लिया कि इनके हृदय में कोई दूसरी गोपी बसती है। बस इसी कल्पना के आधार पर वे रूठ गईं। कवि का प्रारम्भिक आशय यह दिखाना रहा है कि गोपियाँ राधा की ही परछाहीं या प्रतिरूप हैं। कृष्ण का उनसे सम्पर्क राधा के प्रति ही सम्पर्क है। सोलह हज़ार एक सौ आठ गोपिकाओं से कृष्ण का सम्बन्ध दो दृष्टियों से प्रदर्शित है। एक तो कृष्ण के प्रेम की व्यापकता और सार्वजनीनता दिखाने के लिए (जिसमें ऐंद्रिय भाव संस्कृति और कलात्मक उद्यमों, नृत्य, गीत आदि में लीन हो जाय) और दूसरा कृष्ण-चरित्र को निसर्गतः रहस्यात्मक अथवा अलौकिक स्तर पर पहुँचाने के लिए। किन्तु हुआ क्या ? हुआ यह कि काव्य में कृष्ण का बहुनायकत्व ही अधिक उभर उठा है। रहस्यात्मक पक्ष पिछड़ गया। कृष्ण एक-एक रात एक-एक गोपी के साथ व्यतीत करते और प्रातःकाल रक्तिम नेत्र, विचित्र वेश बनाकर दूसरी गोपिका के घर पहुँचते हैं। वहाँ उनका जैसा स्वागत होना चाहिए वैसा ही होता है। फलतः यहाँ कृष्ण थोड़ी-सी निर्लज्जता भी धारण करके स्थिति का सामना करते हैं। एक तो इस प्रसंग को इतना अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है कि मूल भाव सँभाले नहीं सँभला और दूसरे इसकी वर्णना में रहस्यात्मक व्य-भिचार (सब गोपिकाओं से, जो वास्तव में एक ही गोपी की प्रतिरूप है, समान प्रेम) ने स्थूल जारत्व का रूप धारण कर लिया है। मेरे विचार से सूरदास की कला इस प्रसंग में उस उच्च उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकी है जिसके लिए इस प्रसंग की नियोजना की गई थी। यहाँ वह अपने उच्च लक्ष्य और समुन्नत मानसिक धरातल से स्खलित हो गई है।

इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि इस प्रसंग को यहाँ रखने का उद्देश्य केवल कृष्ण की इस प्रतिज्ञा की पूर्ति करना है कि जो कोई उन्हें जिस भाव से भजता है उसको वे उसी भाव से मिलते हैं। सब गोपिकाओं ने मिलकर उन्हें पति रूप में भजा था, इसलिए सबके प्रति वे समान व्यवहार दिखाना चाहते हैं। किन्तु इस प्रतिज्ञा को इस हद तक खींचना ठीक न होगा कि

काव्य में कृष्ण व्यभिचारी और कामुक के रूप में दिखाई देने लगें। गोपिकाओं की कामना-पूर्ति वड़े सुन्दर, स्वाभाविक और रहस्यात्मक रूप में रास-रचना द्वारा हो चुकी थी। वाह्य ऐन्द्रिय सम्वन्ध को शब्दशः पूर्णता तक पहुँचाना सूरदास जैसे उच्चकोटि के कवि का लक्ष्य नहीं हो सकता। मालूम होता है कि उस युग की वहु-पत्नी प्रथा के दुष्परिणाम से सूरदासजी का काव्य भी कोरा न रह सका।

किन्तु ऐसे स्थलों को हम अपवादस्वरूप ही ले सकते हैं। मुख्यतः सूरदास जी की कला उदात्त मानसिक भूमि पर खड़ी है। अवश्य ही कई वार राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों में शारीरिक संयोग की भी चर्चा आई है। हमारे देश के कवियों ने प्रेम के इस परिपाक को स्वाभाविक मानकर स्वीकार किया है, 'रोमांटिक' ढंग से किनारा काटने की प्रथा उनकी नहीं थी। पर ये स्थल काव्य में अन्य स्थलों की भाँति ही प्रसंगतः आ गए हैं, इनके लिए कतिपय अतिवादी कवियों की भाँति कोई खास तैयारी सूरदासजी ने नहीं की है।

मेरी अपनी धारणा यह अवश्य है कि सूरदास जी को ऐसे स्थल वचा जाने चाहिएँ थे, अथवा सकेत से काम ले लेना था, क्योंकि धार्मिक काव्य के रचयिता को सामाजिक मर्यादा अधिक वरतनी होती है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि स्नायुओं को विकृत कर देने वाली आजकल की दीर्घसूत्री अनुराग चर्चाओं की अपेक्षा सूरदासजी का उपक्रम फिर भी वुरा नहीं। अवश्य उन्हें प्रेम या अनुराग की यह परिणति दिखाने से कोई नही रोकता। (वल्कि यह आज के समाज के लिए किसी ग्रंश तक उपयोगी भी है) किन्तु शिष्टाचार के विचार से ऐसे प्रसंगों को मर्यादा की सीमा में रखना था। सर्वत्र सूरदासजी ने ऐसा नहीं किया है, उनके समय की काव्य-परिपाटी में, जान पड़ता है, इस प्रकार कोई प्रतिवन्ध नहीं था।

ऐसे ही, चीर-हरण के अवसर पर कृष्ण के मुख से गोपियों से यह कहलाना कि तुम हाथ ऊपर करके जल से निकलो और अपने-अपने वस्त्र लो, सूरदासजी की सुरुचि का परिचायक नहीं है। सच्चे प्रेम की अगोपनीयता प्रकट करने के लिए कवि के पास कोई दूसरा उपाय नहीं था, यह मैं नहीं कह सकूँगा। उनके उद्देश्य के सम्वन्ध में शंका न रखते हुए भी यहाँ उनकी शैली को मैं

निर्दोष नहीं कह सकता।

पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, ये इने-गिने स्थल अपवादस्वरूप ही हैं और सूरदासजी के वृहत् काव्य पर कोई गहरा धब्बा नहीं लगाते। जो धब्बे हमें आज की दृष्टि से दीख भी पड़ते हैं वे सम्भव है किसी युग-विशेष में क्षम्य भी हों। कम से कम यह तो कोई नहीं कह सकता कि सूरदासजी के काव्य में चित्रित राधा और कृष्ण का प्रेम अतिरिक्त भावात्मक उद्रेक या उबाल का द्योतक है अथवा उसमें नि शक्त कामुकता या दमित वासना के लक्षण हैं। यदि यह त्रुटि नहीं है तो और सब आरोप गौण हो जाते हैं। यदि अनुराग के आरंभ में तीव्र आकर्षण, ऐकान्तिक मिलनेच्छा और सामाजिक मर्यादालंघन की प्रेरणाएँ काम करती हैं तो प्रथम मिलन के पश्चात् तत्काल ही राधा में प्रेमगोपन-चातुरी, वाग्विलास आदि की सामाजिक भावना जाग्रत हो जाती है जो प्रेम के स्वस्थ विकास का परिचायक है।

अब मैं कृष्ण की माखन-चोरी वाले प्रसंग पर छूटी हुई सूरसागर की अपनी सरसरी आलोचना के सूत्र को फिर से पकड़ लूँ। मैं कह चुका हूँ कि यह प्रसंग जहाँ एक ओर गोपियों के स्नेह की सहज धारा प्रवाहित कर देता है वहीं यह पाप-पुण्य निर्लिप्त कृष्ण के उपास्य और रहस्य शुद्धाद्वैत बाल-रूप का भी उद्‌घाटन करने में सहायक हुआ है।

इसके पश्चात् सूरदासजी निरन्तर नायक (कृष्ण) का सहज और साथ ही रहस्यमय गौरव दिखाते हुए काव्य और उपासना की दोहरी आवश्यकता पूर्ति करते गए हैं। माखन-चोरी का ही वयःप्राप्त स्वरूप कृष्ण की दान-लीला में दिखाई देता है। यहाँ प्रेम-कलह के खुले हुए दृश्य हमें दिखाई देते हैं। कृष्ण के दधि-दान (दधि पर लगने वाला कर) माँगने पर गोपियों को कृष्ण से उलझने, वाक्‌युद्ध करने, धमकी देने और बदली में धमकी पाने का अवसर मिलता है। अन्त में एक ओर राधा और उनकी सब सखियाँ तथा दूसरी ओर कृष्ण और उनके सब सखा खुलकर आपस में कहा-सुनी करते हैं। हाथा-पाई की नौबत भी आती है पर अन्त में गोपी-दल सखा समेत कृष्ण को भरपूर माखन-दधि-दान कर, अपने सामने भोजन करा निवृत्त होता है। गोपियों के प्रेम की यह दूसरी बड़ी स्वीकृति कृष्ण ने दी है।

इसके पूर्व ही राधा का कृष्ण से परिचय-समागम हो चुका है। राधा की

भावी सास (यशोदा) ने उसकी माँग गूँथी और नई फरिया (बिना सिला लहँगा) भेंट की है। आँचल में मेवे डाले हैं। राधा की माता को पुत्री के सामने गाली दी (विनोद-वचन कहे) और पिता को भी, जिस पिछले का वदला वह राधा के द्वारा ही पा चुकी है। फिर उसने सूर्य की ओर आँचल पसारकर उन से आशीर्वाद माँगा है कि नए दम्पत्ति का कल्याण हो।

इस रमणीय प्रेम और गार्हस्थ्य प्रसंग को पुनः रहस्य की आभा से अनुरंजित करने के लिए सूरदासजी ने समस्त कुमारिकाओं से कात्यायनी व्रत कराया और पति-रूप में कृष्ण को पाने की कामना करके कार्तिक चतुर्दशी को उपवास और रात्रि-जागरण के पश्चात पूर्णमासी को यमुना स्नान करते हुए दिखाया है। यही अवसर चीर-हरण का है।

भागवत् में राधा का व्यक्तित्व परिस्फुटित नहीं हो पाया है, इसलिए वह व्यक्तिगत प्रेमालाप, वैवाहिक लोकाचार आदि का अवसर ही नहीं आया। बिना व्यक्तित्व के प्रेम की प्रगाढ़ता कैसे प्रकट होती? सूरदासजी ने इस अंश की सम्यक् पूर्ति की और फिर भागवत की ही भाँति उपास्य कृष्ण की भी स्थापना कर दी। जिस कौशल के साथ राधा और कृष्ण के एकनिष्ठ, व्यक्तिगत, प्रगाढ़ प्रेम सम्बन्ध को सामूहिक स्वरूप सूरदासजी ने दिया है, कृष्ण की प्रेममूर्ति को जिस चातुरी के साथ समाज-व्यापी आराधना का पात्र वना दिया है, धार्मिक काव्य के इतिहास में उसके जोड़ की कोई वस्तु शायद ही मिले।

कृष्ण के सौन्दर्य को राधा की अनुरक्त दृष्टि ने रहस्यमय बना दिया है, गोपियाँ जब कि कृष्ण के अंग-अंग के सौंदर्य का वर्णन करती हैं तब राधा कहती है मैंने तो कृष्ण को देखा ही नहीं। एक अंग पर दृष्टि पड़ते ही आँखें भर आती हैं। सारे अंगों को देखने की कौन कहे? उनके अंगों पर कभी निगाह ही नहीं ठहरती। सौंदर्य भी प्रतिक्षण और ही रूप धारण कर लेता है। यह रहस्यमय सौन्दर्य-दर्शन है, जिसकी शिक्षा गोपियाँ राधा से लेती हैं।

राधा तो कृष्ण-प्रेम की प्रयोगकर्त्री है। वह स्वतः प्रेम की आकर है। किन्तु सूरदासजी का प्रयोजन एकमात्र आकार से ही सिद्ध नहीं होता। वे घर-घर उस आकर का प्रसार भी चाहते हैं। एतदर्थ राधा की सखियों की नियोजना की गई है, जो प्रयोगकर्त्री राधा के सन्देश को शतशः प्रणालियों से सारी दिशाओं में फैला देती हैं। व्रज की रज-रज में कृष्ण-प्रेम की सुगन्धि

व्याप्त हो गई है। भक्ति की वेल इसी रज में से अंकुरित होती, वढ़ती और छा जाती है।

राधा श्रीकृष्ण की भक्त है अथवा प्रेमिका? सूरसागर में वे सर्वत्र कृष्ण की समानाधिकारिणी प्रेमिका हैं। उनकी श्री शोभा पर कृष्ण मुग्ध हैं। कृष्ण के रूप-लावण्य पर राधा रीझी हैं। क्या यह भक्ति का संवंध है? नहीं, यह प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध है। किन्तु इसी प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध का जव समाजीकरण होता है, जव प्रत्यंक गोपी राधा वनकर कृष्ण की आराधना करती है तव स्वभावतः भक्ति का आगमन होता है। प्रेमी कृष्ण के द्वारा ही आराध्य कृष्ण की स्थापना सूरदासजी ने जिस सुचारु कोटि-क्रम से कराई है, वह काव्य-जगत में एकदम अनोखा है।

रास वह स्थल है जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध समाज-व्यापी होकर रहस्यमयी भक्ति में परिणत हो जाता है। श्रीकृष्ण सहस्रों गोपिकाओं के साथ रास में सम्मिलित होते और सवकी कामना-पूर्ति करते हैं। यहाँ प्रेमिका की व्यक्तिगत सम्बन्ध-धारणा और तज्जन्य गर्व का निराकरण भी किया गया है। राधा यह सम्बन्ध-धारणा रखती थीं, इसलिए कृष्ण कुछ काल के लिए अन्त-र्ध्यान हो जाते हैं। जव राधा का यह गर्व दूर होता है तव कृष्ण पुनः उनके सामने जाते हैं।

प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध की यह अन्तिम परिणति ध्यान देने योग्य है। यह व्यक्तिगत सम्बन्ध का पूर्ण समाजीकरण है, जिसे हम भक्ति कह सकते हैं। रास में असंख्यों गोपियों का भाग लेना, नृत्य-गीत आदि के द्वारा सवकी कामना पूर्ति, रहस्यमय रूप से सारी मंडली का कृष्ण-केन्द्र से सम्पृक्त होना और फिर रास में कृष्ण के वंशी-वादन का प्रभाव—पाषाणों का द्रवित होना, यमुना की गति का स्तंभित होना, चन्द्रमा का ठहर जाना—सभी एक ही लक्ष्य की ओर इंगित करते हैं, सान्त का अनन्त में, व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान। इसलिए कृष्ण का रास अनन्त कहा गया है। यह वह आदर्श स्थिति है जिसमें पूर्ण सामरस्य की स्थापना हो गई है, विक्षेप का कहीं अस्तित्व नहीं। संकीर्णता के हेतुभूत गर्व और अहंकार गलित हो गए हैं, घुलकर वह गए हैं और धुलकर निकली है दुग्ध-धवल शरच्चन्द्रिका से सव ओर छिटक रही उज्ज्वल कृष्ण-भक्ति।

यह न समझना चाहिए कि हम आये दिन बाजारों में रासलीला संबंधी जो भद्दे चित्र देखा करते हैं, वही सूरदास का भी रास है। रास नाम तो दोनों में समान है, किन्तु उसके अंकन में सूरदासजी की समता करना साधारण चित्र-कारों का काम नहीं। रास की वर्णना में सूरदासजी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल श्रीमद्भागवत् की परम्परागत अनुकृति कवि ने नहीं की है, वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो सज्जा, गोपियों का जैसा संगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण दिखाया है और रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अंतर्दृष्टि के द्योतक हैं। उनके काव्य-चमत्कार की तुलना में बाजारू चित्रों को रखना, मणियों का मूल्य झूठे मोतियों द्वारा आँकना है।

रास के पश्चात् विशेषतः मान का वर्णन कवि ने किया है, जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। मान का हेतु है राधा का अन्य गोपियों से अपने को पृथक् समझना, जबकि कवि की रहस्योन्मुख कला में वे राधा की प्रतिच्छाया-मात्र हैं। इस लीला का आशय इस रहस्य को मुखरित करना ही था, किन्तु वर्णन की अतिरंजना में कवि का मूल उद्देश्य विलुप्त हो गया और राधा की भ्रांति के स्थान पर कृष्ण का अपराधी रूप ही उभर आया है। निश्चय ही यह कवि की भावना के अनुरूप सृष्टि नहीं है।

कला की दृष्टि से मान-प्रसंग का एक दूसरा प्रयोजन राधा के व्यक्तित्व की, विशेषतः उसके सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करना भी हो सकता है—वह सौंदर्य जिसका आकर्षण कृष्ण को भी विभ्रान्त कर देता है (गोपियों की तो हस्ती ही क्या ?) और वह व्यक्तित्व, जिसके सामने कृष्ण भी झुककर प्रार्थी होते हैं। किन्तु इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं कहा जा सकता। इसमें राधा का सौन्दर्याकर्षण यद्यपि प्रमुख हुआ है, किन्तु उससे भी प्रमुख हो गई है उनकी गोपियों के प्रति ईर्ष्या। क्या कवि का यह उद्देश्य (ईर्ष्या को

प्रमुखता देना) हो सकता है ?

उच्च कला और सौन्दर्य-स्थापना की दृष्टि से इसका समर्थन नहीं किया जा सकता, यद्यपि एक प्रकार के श्रद्धालु यह कहेंगे कि राधा की ईर्ष्या उनके अन्य गोपियों की अपेक्षा सुन्दर सज्जा करने और कृष्ण-प्रेम की एकान्त-अधिकारिणी वनने में सहायक हुई है। उस समर्थक वर्ग की दलील भी हम सुन चुके हैं जो यह कहता है कि प्रत्येक गोपी ने जिस-जिस भाव से कृष्ण को भजा उसकी पूर्ति उन्होंने की ! उन्हीं में से कुछ यह भी कहेंगे कि विना शारीरिक संयोग के गोपियों में उस विरह की जागृति दिखाना सम्भव न था जो कृष्ण के मथुरा-गमन के पश्चात् समस्त व्रज में छा गया है। इस प्रकार की विचारणा उस विशेष वर्ग की है जो तांत्रिक रहस्यवादी पद्धतियों का अनुयायी है। मेरे विचार से श्रेष्ठ कला और दर्शन की आवश्यकताएँ इससे भिन्न हैं।

मान-मोचन के वाद ही वसन्त और होली के अवसर आते हैं, जिनमें सामूहिक गान, वाद्य और छीना-झपटी के चटकीले और रंगीन दृश्य दिखाई देते हैं। इसके पश्चात् सागर-स्नान और स्नानान्तर स्वच्छ नूतन वस्त्र धारण करना और फिर पुष्पमालाओं से आच्छादित स्वर्ण हिंडोल में गोपियों से परिवेष्टित राधा-कृष्ण की झूलती हुई ऐश्वर्यशालिनी झाँकी। यहीं कृष्ण की व्रज लीला समाप्त होती है। पर्दा गिरता है। प्रशान्त ओजस्विता और प्रसन्न समादर के प्रभाव लेकर दर्शक-मंडली (व्रज की गोप-गोपियाँ) घर लौटती हैं।

इस अवसर पर जव व्रज में सब ओर सुख-समृद्धि छा गई है और हिंडोल स्थित राधा-कृष्ण की किशोर मूर्ति चरम आकर्षण का विषय वन चुकी है, एक ऐसी निष्क्रियता और आत्मनिद्रा की सम्भावना है जो स्वभावतः ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होती है। शेषशायी भगवान् नारायण के-से दिव्य किन्तु प्रस्थिर और गतिहीन स्वरूप का उद्घाटन करना सूरदास की कला का लक्ष्य नहीं था, नहीं तो वे इसी स्थान पर अपना काव्य समाप्त कर देते। पर वे सारे व्रज-मण्डल को चौंका देते हैं, कृष्ण के मथुरा जाने की सूचना देकर। असम्भावित रूप से एक ऐसा झोंका आता है जो सुख के प्रशांत पारावार को दुःख की तरंगों से अभिभूत कर देता है। सव-के-सव चकित हो रहते हैं और कर्तव्य शून्य होकर क्षोभ के महानद में डूवते-उतराते हैं। काव्य में जीवन की प्रगति का यही स्वरूप है। कृष्ण का कार्य अव व्रज में नहीं, मथुरा में है। इसलिये वे समस्त काव्य-सम्बन्धों

और प्रेम-बन्धनों को दूसरे ही क्षण तोड़ देने को (हृदय पर पत्थर रखकर) तैयार हो जाते हैं।

विजय का पूर्ण विश्वास प्रतिक्षण मन में रखते हुए भी (अर्थात् भीतर से निश्चित होते हुए भी) बाहर विकट संघर्षों का सामना कृष्ण को करना पड़ता है। वे सच्चे अर्थ में क्रांतिकारी का आत्म-विश्वास और उसी की-सी कष्ट सहिष्णुता लेकर इस नये नाट्य में प्रवेश करते हैं। अदने-से अदना कार्य वे अपने हाथों करते हैं (क्योंकि वे किसी समृद्ध सेना के नायक नहीं, नये क्रांतिकारी हैं) और अदनी-से-अदनी बात सुनने को तैयार रहते हैं। सूरसागर के इस प्रसंग को देखने पर इसकी अद्‌भुत समानता उन रचनाओं से देख पड़ती है, जिनमें प्रचलित समाज-व्यवस्था अथवा राज-व्यवस्था के विरुद्ध क्रांतिकारी चरित्रों की अवतारणा की गई है। रज़क के साथ कृष्ण का झगड़ा, उससे कपड़े छीन कर अपने साथियों को पहनाना (बहाना यह कि राजा के दरबार में मैले कपड़े पहनकर कैसे जायं) पाश्चात्य क्रांतिकारी प्रसंगों की याद दिलाता है। मल्ल-युद्ध के पूर्व कूबरी का मिलना और तिलक सारना एक ऐसा विचित्र और शुभसूचक मनोवैज्ञानिक उपादान है जो आधुनिक क्रांति-मूलक रचनाओं में भी किसी-न-किसी रूप में मिल जाता है। कंस-वध के पश्चात् कृष्ण सबसे पहले कूबरी के घर जाकर ही उसका स्वागत सत्कार ग्रहण करते हैं। कंस के दुराचारों के भार से दबकर ही मानों वह कूबरी हो गई थी और कृष्ण के आते ही वह सुन्दर अंगों वाली हो जाती है।

यहाँ, व्रज में कृष्ण कितने कोमल प्रेम तन्तुओं को छिन्न-भिन्न कर गए हैं, इसका कुछ अन्दाज गोपियों की विरह-कातर पुकार से लग सकेगा। आज के समीक्षक को यह एतराज है कि कृष्ण के कुछ मील दूर, मथुरा जाने पर गोपियों के रोने-धोने का इतना बड़ा पवाँरा सूरदास ने क्यों तैयार किया? यही नहीं, सूरसागर काव्य के जो सर्वोत्कृष्ट स्थल हैं—वंशी को लक्ष्य करके दिये गए सैकड़ों उपालभ, जिनमें सूक्ष्म प्रेम भावना भरी हुई है, नेत्रों पर किये गए अनेकानेक आरोप, जिनमें रहस्यात्मक सौन्दर्य-व्यंजना है, इन आलोचकों को व्यर्थ की मानसिक उधेड़-बुन और एक अतिभावुक युग का काव्यावशेष समझ पड़ता है किन्तु यह समझ एकदम भ्रांत है। असल में इन्हीं वर्णनाओं में, जो कवि की उत्कृष्ट तल्लीनता और सूक्ष्म मानसिक पहुँच तथा अधिकार

की द्योतक हैं, कवि ने कृष्ण के रहस्यमय स्वरूप का निर्देश किया है, वह स्वरूप जो भक्ति का आधार और भक्तों का इष्ट है। भक्ति और भक्त का नाम सुनकर कोई मिथ्या धारणा नहीं बना लेनी चाहिए। मैं कह चुका हूँ कि व्यक्तिगत प्रेम का सामूहिक सामाजिक स्वरूप ही भक्ति है और साथ ही मैं कवि सूरदास की उन काव्य-चेष्टाओं की भी कुछ सूचना दे चुका हूँ जिनमें उन्होंने इस समाज-व्यापिनी कृष्ण-भक्ति की नियोजना की है। इन्हीं चेष्टाओं के सर्वश्रेष्ठ अंश वे हैं जिन्हें उपर्युक्त आलोचक मानसिक विजृम्भणा कहकर टाल देना चाहते हैं। पर इस प्रकार वे टाले नहीं जा सकेंगे। व्यक्त सौन्दर्य की जो अव्यक्त और निगूढ़ अन्तर्गतियाँ कवि ने दिखाई हैं, वे कृष्ण को रहस्यमय स्वरूप प्रदान करती हैं। इसी रहस्यमय स्वरूप से उपास्य कृष्ण की प्रतिष्ठा होती है। जो प्रेम-प्रसंग व्यक्तिगत और बाह्य घटनाओं से प्रकट हैं उनका उपयोग भी क्रमशः अनिर्वचनीय, रहस्यमय सामूहिक प्रेम (भक्ति) की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। सूरदास की यही मुख्य काव्य साधना है।

व्रज रहते कृष्ण का जो प्रेम गोपियों में इधर-उधर बिखरा था अब उनके मथुरा जाने पर वह छनकर एकत्र हो रहा है। गोपियों के विरह-गीतों में उसका समाज-व्यापी स्वरूप धारण करना जारी है। मिलने के अवसर पर जो रहे-सहे भेदभाव थे, वे भी अब मिट गए हैं। जिन लोगों ने यह शंका की है कि सूरसागर में सोलह हजार गोपिका-सहचरियों से कृष्ण का प्रेम सम्बन्ध क्यों दिखाया गया है, उन्हें ऊपर के उत्तर से समाधान कर लेना चाहिए। प्रेम-भावना रहस्यमय सामाजिक स्वरूप धारण कर रही हैं।

और जब उद्धव निर्गुण का संदेश लाते हैं और गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधित करके उन्हें मर्म-स्पर्शी उत्तर देती है, तब तो रहस्य खुल ही जाता है। गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म का तिरस्कार क्यों करती हैं? क्योंकि वे जिसकी प्रेमिका या उपासिका हैं, वह निर्गुण से क्या कम है? निर्गुण से क्या कम सुन्दर है, क्या कम श्रेष्ठ है? जिसको योगी योग द्वारा समाधि साधकर प्राप्त करते हैं उसे ही (नामान्तर से) गोपियों ने प्रेम-परिचर्या से प्राप्त किया है। क्यों वे इसे छोड़कर उसे लें? क्या विशेषता है उसमें जो इस में नहीं है? क्या रहस्य है उसमें जो इसमें नहीं है? जो विशेषण उसके साथ लगते हैं वे सब इसके साथ भी लगते

है । यह कोई व्यक्ति कृष्ण नहीं, यह तो रहस्यमयी परम सत्ता, परम उपास्य ही कृष्ण है । और यहीं सूरदासजी की आरम्भिक प्रतिज्ञा सार्थक हो जाती है :

"अविगत गति कछु कहत न आवै ।
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै ।।"

अविज्ञात निर्गुण के समक्ष विज्ञात सगुण कृष्ण के रहस्यमय पद सूरदास सुनाते हैं ।

महान् लोक-नायक

गो० तुलसीदास

हिन्दी साहित्य की राम-भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि गो० तुलसीदास जी हैं। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अत्यधिक ऊहापोह और मत-भेद हैं। अधिकांश विद्वानों की मान्यता यही है कि इनका जन्म ज़िला बाँदा के राजापुर स्थान में सन् १५४० में हुआ था और मृत्यु सम्वत् १६८० अथवा सन् १६२३ में हुई थी। कुछ विद्वान् इनका जन्म-स्थान सोरों मानते हैं। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। इनका जीवन अधिकतर काशी में ही व्यतीत हुआ था। आरम्भिक अवस्था में इन्होंने भ्रमण और साधु-सत्संग बहुत किया था। इनका विवाह रत्नावली नाम की एक ब्राह्मण-कन्या से हुआ था। कहा जाता है कि उसी के आक्षेप-पूर्ण उपदेश से इन्हें वैराग्य हुआ और ये राम-भक्ति की साधना में अनन्य भाव से लग गए।

गोस्वामी जी ने ठीक समय पर उत्पन्न होकर देश और समाज को सही नेतृत्व दिया। राम-भक्ति के माध्यम ने इन्होने लोक-जीवन की उखड़ती हुई रूप-रेखा को मर्यादा और अनुशासन का आधार देकर पुनः प्रतिष्ठित किया। इनका रामचरितमानस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है और एक साथ ही विद्वानों और जन-सामान्य का काव्य है। इनके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं— रामलला नहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, कवितावली, गीतावली, विनय-पत्रिका, बरवै रामायण, दोहावली, रामशलाकाप्रश्नावली, वैराग्यसंदीपनी, कृष्णगीतावली और हनुमानबाहुक।

प्रकृति और स्वभाव

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिंदी के राजाश्रित कवि प्रायः अपना और अपने आश्रयदाताओं का कुछ परिचय अपनी पुस्तकों में दे दिया करते थे। पर भक्त कवि इसकी आवश्यकता नहीं समझते थे। तुलसीदास जी ने भी अपना कुछ वृत्तांत कहीं नहीं लिखा। अपने जीवन वृत्त का जो किंचित् आभास उन्होंने कवितावली और विनयपत्रिका में दिया है वह केवल अपनी दीनता दिखाने के लिये। किसी-किसी ग्रन्थ का समय भी उन्होंने लिख दिया है। उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में लोगों की जिज्ञासा यों ही रह जाती है। दूसरे ग्रंथों और कुछ किंवदंतियों से जो कुछ पता चलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है। उनके जीवन वृत्त-सम्बन्धी दो ग्रंथ कहे जाते हैं— (१) बाबा वेनीमाधवदास का 'गोसाईंचरित', (२) रघुवर-दासजी का 'तुलसीचरित'। पहले ग्रन्थ में लिखी अधिकतर बातें निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध पड़ती हैं। दूसरा ग्रन्थ कहीं पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। हमारी समझ में ये दोनों पुस्तकें गोस्वामी जी के बहुत पीछे श्रुति परम्परा के आधार पर लिखी गई हैं। इनमें सत्य का कुछ अंश मात्र कल्पित बातों के बीच छिपा हुआ माना जा सकता है। अतः गोस्वामी जी की प्रकृति का परिचय प्राप्त करने के लिये हमें उनके वचनों का ही सहारा लेना पड़ता है।

तुलसी की भक्ति केवल व्यक्तिगत एकांतसाधना के रूप में नहीं है। व्यवहार क्षेत्र के भीतर लोकमंगल की प्रेरणा करने वाली है। अतः उसमें ऐसे ही उपास्य की भावना हो सकती है जो व्यावहारिक दृष्टि में लोकरक्षा और लोकरंजन करता दिखाई पड़े अर्थात् जो उच्च और धर्ममय हो। इसी उच्च की ओर उठकर जब हृदय उमंग से भरता है तब उसमें दिव्यकला का प्रकाश होता है—

उरवी परि कलहीन होइ, ऊपर कला प्रधान।
तुलसी देखु कलाप गति, सावन घन पहिचान॥

जब तक मोर की पूँछ के पंख जमीन पर लुढ़ते चलते हैं तब तक वे कलाहीन रहते हैं पर जब लोकरक्षक और लोकरंजक मेघ को देख मयूर उमंग से भर जाता है और पंख ऊपर उठ जाते हैं तब वे कलापूर्ण होकर जगमगा उठते हैं। जिस उपासना में उपास्य का स्वरूप मेघ के आदर्श तक पहुँचा हुआ न होगा उसके प्रति तुलसी की सहानुभूति न होगी। इस प्रकार उनकी उपासना सबंधिनी उदारता की एक हद हो जाती है। भूतप्रेत पूजने वालों के प्रति उनका यह उदारभाव नहीं था कि जो अपनी विद्या बुद्धि के अनुसार परोक्ष शक्ति की जिस रूप में भावना कर सकता है उसका उसी रूप में उपासना करना ठीक है—वह उपासना तो करता है। भूतप्रेत पूजने वालों की गति तो वे वैसी ही बुरी बताते हैं, जैसी किसी दुष्कर्म से होती है—

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर।
तिन्हकै गति मोहिं देउ बिधि जो जननी मत मोर॥

फिर भी उनकी यह अनुदारता उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जिसके जोश में अंग्रेज कवि मिल्टन ने प्राचीन सभ्य जातियों के उपास्य देवताओं को जबरदस्ती खींचकर शैतान की फौज में भरती किया है—उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जो दूसरे धर्मों की उपासना पद्धति जैसे, मूर्ति पूजा, को गुनाहों की फिहरिस्त में दर्ज करती है। गोस्वामी जी का विरोध तो इस सिद्धान्त पर है कि जो जिसकी उपासना करता है, उसका आचरण भी उसी के अनुरूप रहता है।

जिस भक्तिपद्धति में लोकधर्म की उपेक्षा हो, जिसके भीतर समाज के श्रद्धापात्रों के प्रति द्वेष छिपा हो उसकी निंदा करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया है।

'विश्वास' के सम्बन्ध में भी उनकी प्रायः वही धारणा समझिए जो उपासना के सम्बन्ध में है। यदि विश्वास का आलंबन वैसा श्रेष्ठ और सात्विक नहीं है तो उसे वे 'अंधविश्वास' मानते हैं—

लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब पाय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥

तुलसी के ऐसे पहुँचे हुए भक्त के दैन्य और विनय के विषय में तो कहना ही क्या है। सारी विनयपत्रिका इन दोनों भावों के अपूर्व उद्‌गारों से भरी

हुई है। 'रामचरित मानस' ऐसा अमर कीर्तिस्तंभ खड़ा करते समय भी उन का ध्यान अपनी लघुता पर से न हटा। वे यही करते रहे—

कबि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्मध्वज धँधरक धोरी॥
जौ अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥

पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'लघुत्व' की यह परमानुभूति परम महत्व के साक्षात्कार के कारण थी। अतः लोकव्यवहार के भीतर उसका कितना अंश समा सकता था, इसका विचार भी हमें रखना पड़ता है। दुष्टों और खलों के सामने उसकी उतनी मात्रा नहीं रह सकती थी, जो गोस्वामीजी को उन्हें दुष्ट और खल कहने तथा उनके स्वरूप पर ध्यान देने से रोक देती। साधुओं की वंदना से छुट्टी पाते ही वे खलों को याद करते हैं। उनकी वंदना करके भी वे उनसे अनुग्रह की आशा नहीं रखते, क्योंकि अनुग्रह करना तो उनका स्वभाव ही नहीं—

वायस पालिय अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥

राम के सामने तो उन्हें अपने ऐसा कोई खल ही संसार में नहीं दिखाई देता, उनके सामने तो वे कदापि यह नहीं कह सकते कि क्या मैं उससे भी खल हूँ। यहाँ तो वे 'सब पतितों के नायक' बन जाते हैं। पर जब खलों से वास्ता पड़ता है, तब उनके सामने वे अपना लघुत्व प्रदर्शन नहीं करते, उन्हें कौवा कहते हैं और आप कोयल बनते हैं—

खल परिहास होहिं हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥

जब तक 'साधना' के एकान्त क्षेत्र में रहते हैं, तब तक तो वे अपने सात्विक भावों को ऊँचे चढ़ाते चले जाते हैं, पर जब व्यवहार क्षेत्र में आते हैं, तब उन्हें कम से कम अपने वचनों का सामंजस्य लोकधर्म के अनुसार संसार की विविध वृत्तियों के साथ करना पड़ता है। पर इससे उनके अन्तःकरण में कुछ भी मलिनता नहीं आती, व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या-द्वेष का उदय नहीं होने पाता। द्वेष उन्हें दुष्कर्म से है, व्यक्ति से नहीं। भारी से भारी खल के सम्बन्ध से भी

उनकी बुद्धि ऐसी नहीं हो सकती कि अवसर मिलता तो इसकी कुछ हानि करते।

सबसे अधिक चिढ़ उन्हें 'पापंड' और 'अनधिकार चर्चा' से थी। खलों से समझौता तो वे अपने मन को इस तरह समझाकर कि—

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू ।।

बड़ी जल्दी कर लेते हैं पर 'पापंडियों और बिना समझी-बूझी बातें बककर अपने को ज्ञानी प्रकट करने वालों से उनकी विधि नहीं बैठती थी। उनकी बातें सुनते ही वे चिढ़ जाते थे और कभी-कभी फटकार भी देते थे। एक साधु को बार-बार 'अलख अलख' कहते सुनकर उनसे न रहा गया। वे बोल उठे—

तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच।

इस 'नीच' शब्द से ही उनकी चिड़चिड़ाहट का अंदाज कर लीजिए। आडंबरियों और पाषंडियों ने उन्हें चिड़चिड़ा कर दिया था।

इससे प्रकट होता है कि उनके अन्तःकरण की सबसे प्रधान वृत्ति थी सरलता, जिसकी विपरीतता वे सहन नहीं कर सकते थे। अतः इस थोड़ी-सी चिड़चिड़ाहट को भी सरलता के अन्तर्गत लेकर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का स्वभाव अत्यन्त सरल, शांत, गंभीर और नम्र था। सदाचार की तो वे मूर्ति थे। धर्म और सदाचार को दृढ़ न करने वाले भाव को—चाहे वह कितना ही ऊँचा हो—वे भक्ति नहीं मानते थे। उनकी भक्ति वह भक्ति नहीं है जिसे कोई लंपटता या विलासिता का आवरण बना सके।

यद्यपि गोस्वामी जी निरभिमान थे, पर लोभवश हीनता प्रकट करने को वे सच्चा 'दैन्य' नहीं समझते थे, आत्मगौरव का ह्रास समझते थे। राम की शरण में जाकर वे निर्भय हो चुके थे, राम से याचना करके वे अयाचमान हो चुके थे, अतः—

किरपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछू जिनके मुख मोरे।

उनकी प्रशंसा या खुशामद करने वे क्यों जाते? उनकी प्रशंसा करना वे सरस्वती का गला दबाना समझते थे—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।।

इस समझ के अनुसार वे बराबर चले। उन्होंने कहीं किसी ग्रंथ में अपने समय के किसी मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है। केवल सच्चे स्नेह के नाते, उत्तम

आचरण पर रीझकर, उन्होंने अपने मित्र टोडर के संवंध में चार दोहे कहे हैं।

भारतभूमि में उत्पन्न होना वे गौरव की बात समझते थे। इस भूमि में और अच्छे कुल में जन्म को वे अच्छे कर्मों के साधन का भगवान की कृपा से मिला हुआ अच्छा अवसर मानते थे—

(क) भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहिकै।
जो भजै भगवान सयान सोई, तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै॥

(ख) दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति विष फल फली॥

गोस्वामीजी लोकदर्शी भक्त थे अत: मर्यादा की भावना उनमें हम वरावर पाते हैं। राम के साथ अपने घनिष्ठ संबंध का अनुभव करते हुए भी वे उनके सामने अपनी वात कहने अदव कायदे के साथ जाते हैं। 'माधुर्य भाव' की उपासना से उनकी उपासना की मानसिक पद्धति स्पष्ट अलग दिखाई पड़ती है। 'विनयपत्रिका' में वे अपनी ही अवस्था का निवेदन करने बैठे हैं पर वहाँ भी वे लोकप्रतिनिधि के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वे कलि की अनीति और अत्याचार से रक्षा चाहते हैं जिनसे केवल वे ही नहीं, समस्त लोक पीड़ित है। उनकी मंगलाशा के भीतर जगत की मंगलाशा छिपी हुई है। वे अपने को लोक से असंबद्ध करके नहीं देखते। उन्हें उनके आराध्य राम किसी एकांत कोने में नहीं मिलते, भरे दरवार में, खुले संसार में मिलते हैं। 'विनयपत्रिका' रामचंद्रजी के दरवार में गुजरने वाली अर्जी है जिसकी तहरीर जवरदस्त है। यह अर्जी यों ही वाला-वाला नहीं भेज दी जाती है। कायदे के खिलाफ काम करने वाले—मर्यादा का भंग करने वाले—आदमी तुलसीदासजी नहीं हैं। बीच के देवताओं और मुसाहवों के पास से होती हुई तव हुजूर में गुजरती है। वहाँ पहले से सधे हुए लोग मौजूद हैं। हनुमान और भरत धीरे-से इशारा करते हैं (दरवार है, ठट्टा नहीं है) तव लक्ष्मण धीरे-से अर्जी पेश करते हैं, और लोग भी जोर दे देते हैं। अंत में महाराजाधिराज हँसकर यह कहते हुए कि 'मुझे भी इसकी खवर है' मंजूरी लिख देते हैं।

कुछ रत्नपारखियों ने सूर और तुलसी में प्रकृतिभेद दिखाने का प्रयास करते हुए सूर को खरा और स्पष्टवादी तथा तुलसी को सिफारिशी, खुशामदी या लल्लो-चप्पो करनेवाला कहा है। उन्होंने सूर की स्पष्टवादिता के प्रमाण में ये वाक्य पेश किए हैं—

सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ में अति ही खोटो।

० ० ०

सूरदास सर्वस जौ दीजै कारो कृतहि न मानै।

उन दोनों पदों पर, जिनमें ये वाक्य आये हैं, जो साहित्य की दृष्टि से थोड़ा भी विचार करेगा वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न कलूटे कृतघ्न। ये वाक्य तो विनोद या परिहास की उक्तियाँ हैं। शृंगाररस में सखियाँ इस प्रकार का परिहास बराबर किया करती हैं।

तुलसी पर लगाया हुआ दूसरा इलजाम, जिससे सूर बरी किए गए हैं, यह है कि वे रह-रहकर फजूल याद दिलाया करते हैं कि राम ईश्वर हैं। ठीक है, तुलसी ऐसा जरूर कहते हैं। पर कहाँ ? रामचरित मानस में। पर रामचरितमानस तुलसीदास का एकमात्र ग्रंथ नहीं है। उसके अतिरिक्त तुलसीदास के और भी कई ग्रंथ हैं। क्या सब में यही बात पाई जाती है ? यदि नहीं तो इसका विवेचन करना चाहिए कि रामचरितमानस में ही यह बात क्यों है। मेरी समझ में इसके कारण ये हैं—

(१) रामचरितमानस की कथा के वक्ता तीन हैं—शिव, याज्ञवल्क्य और काकभुशुंडि। श्रोता हैं पार्वती, भरद्वाज और गरुड़। इन तीनों श्रोताओं ने अपना यह मोह प्रकट किया है कि कहीं राम मनुष्य तो नहीं हैं। तीनों वक्ता जो कथा कह रहे हैं, वह इसी मोह को छुड़ाने के लिये। इसलिये कथा के बीच-बीच में याद दिलाते जाना बहुत उचित है। गोस्वामीजी ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट करके शंका की जगह नहीं छोड़ी है।

(२) रामचरितमानस एक प्रबंध काव्य है, जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं पर से होता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथा प्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय-समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी, जो नायक को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकर पद्यों में इसकी

आवश्यकता न प्रतीत होगी। सूरसागर की शैली पर तुलसी की 'गीतावली' है। उसमें यह वात नहीं पाई जाती। जवकि समान शैली की रचना मिलती है, तव मिलान के लिये उसी को लेना चाहिए।

(३) श्रीकृष्ण के लिये 'हरि', 'जनार्दन' आदि विष्णुवाचक शब्द बरावर लाए जाते हैं, इससे चेतावनी की आवश्यकता नहीं रह जाती। गोपियों ने कृष्ण के लिये वरावर 'हरि' शब्द का व्यवहार किया है।

तुलसी की भक्ति पद्धति

हम्मीर के समय में चारणों का वीरगाथा काल समाप्त होते ही हिन्दी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिये वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया, देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और वल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कवीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के वीच किया। साथ ही कुतवन्, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रवंधरचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन वहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन स्वरूप को लेकर चला था, अर्थात् प्राचीन भागवत संप्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था और दूसरा विदेशी परंपरा का अनुयायी, लोकधर्म से उदासीन तथा समाजव्यवस्था

और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था।[1] यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करने वाला है। इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परंपरावाले भक्त वेदशास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोकधर्मरक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है, इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिंदू जीवन को फिर से हरा किया। पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखा कर सूरदास ने हिंदू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदासजी ने भगवान् का लोक-व्यापारव्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिंदू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिन्दू जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी अभिव्यंजना करने वाली वाणी का विकास भी स्वाभाविक था। अतः सूर और तुलसी के समय हिन्दी कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की कद्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की कद्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि काल के कारण हैं, सूर-तुलसी; और सूर-तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास जिसके

१. योरप में ईसाई धर्म के भक्त उपदेशकों द्वारा ज्ञान विज्ञान की उन्नति के मार्ग में किस प्रकार बाधा पड़ती रही है, यह वहाँ का इतिहास जानने वाले मात्र जानते हैं।

अवलंबन थे राम और कृष्ण । लोक मानस के समक्ष राम और कृष्ण जब से स्पष्ट करके रखे गए, तभी से वह उनके एक-एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में लग गया । यहाँ तक कि सूरदास तक आते-आते भगवान् की लोकरंजनकारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई । अंत में उनकी अखिल जीवनवृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करने वाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ ।

इस दिव्य वाणी का मंजु घोष घर-घर क्या, एक-एक हिन्दू के हृदय तक पहुंच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं । यही वाणी हिन्दू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी । उस समय यह कहना कि ईश्वर सबसे दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता । ईश्वर विना पैर के चल सकता है, विना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीनदुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है और लोक धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है । इस भावना का हिंदू हृदय से वहिष्कार नहीं हो सकता । जहाँ हमें दिन-दिन वढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह 'रावणत्व' की सीमा पर पहुँचेगा और 'रामत्व' का अविर्भाव होगा । तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया । रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सवके हृदय और कंठ में सब दिन के लिये बसा दिया । किसी श्रेणी का हिन्दू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनंदोत्सव में, जहाँ देखिए, वहाँ राम । गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू जीवन को राममय कर दिया । गोस्वामीजी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । उनकी वाणी के प्रभाव से आज भी हिन्दू भक्त अवसर के अनुसार

सौंदर्य पर मुग्ध होता है, महत्त्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म में उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का अवलंबन करता है और मानव जीवन के महत्त्व का अनुभव करता है।

जिस विदेशी परंपरा की भक्ति का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके कारण विशुद्ध भारतीय भक्तिमार्ग का स्वरूप बहुत कुछ आच्छन्न हो चला था । गोस्वामी जी की सूक्ष्म दृष्टि किस प्रकार इस बात पर पड़ी यह आगे दिखाया जायगा । भारतीय भक्तिमार्ग और विदेशी भक्तिमार्ग में जो स्वरूपभेद हैं उसका संक्षेप में निरूपण हम यहाँ पर कर देना चाहते हैं ।

हमारे यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों अलग-अलग रहे हैं। ज्ञानमार्ग शुद्ध बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया अर्थात् चिंतन-पद्धति का आश्रय लेता है, भक्तिमार्ग शुद्ध हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों अर्थात् भावों को लेकर चलता है, योगमार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा अस्वाभाविक (एब्नार्मल) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अंतस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परंपरा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्यदर्शन का। तत्त्वज्ञान के अधिकारी तर्कबुद्धि-संपन्न चिंतनशील दार्शनिक ही माने जाते थे। सूर और तुलसी के संबंध में यह अवश्य कहा जाता है कि उन्होंने भगवान् के दर्शन पाये थे,[1] पर यह कोई नहीं कहता कि शंकराचार्य और रामानुज भी ज्ञान की जिस सीमा तक नहीं पहुँचे थे उस सीमा तक वे पहुँचे थे। भारतीय पद्धति का भक्त यदि झूठा दावा कर सकता है तो यही कि मैं भगवान् के ही प्रेम में मग्न रहता हूँ, यह नहीं कि जो बात कोई नहीं जानता वह मैं जाने बैठा हूँ। प्रेम के इस झूठे दावे से, इस प्रकार के पाखंड से, अज्ञान के अनिष्ट प्रचार की आशंका नहीं।

भारतीय भक्त का प्रेममार्ग स्वाभाविक और सीधा है जिस पर चलना सब

---

१. यह जनश्रुति है कि तुलसीदास जी को चित्रकूट में राम की एक झलक जंगल के बीच में मिली थी। इसका कुछ संकेत-सा विनय पत्रिका के इस पद में मिलता है—'तुलसी तोको कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करिसो।'

जानते हैं, चाहे चलें न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई विरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिये ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह॥

सरलता इस मार्ग का नित्य लक्षण है—मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता—

सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुबर प्रेम प्रसूति॥

भारतीय परंपरा के भक्त में दुराव, छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती। उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ उन्हें कोई विरला ही समझ सकता है, इससे अपनी वाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती। वह सीधी-सादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेटकर पहेली बनाने और असंबद्धता के साथ कहने नहीं जाता। बात यह है कि वह अपना प्रेम किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता। उसका उपास्य ज्ञात है। उसके निकट ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिंतन के लिये छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी को लेकर वह प्रेम में लीन रहता है। तुलसी कहते हैं कि जिसे हम जानेंगे, वही हमें जानेगा—

जाने जानत, जोइए, बिनु जाने को जान ?

पर पाश्चात्य दृष्टि में भक्तिमार्ग 'रहस्यवाद' के अंतर्गत ही दिखाई पड़ता है। बात यह है कि पैगंबरी (यहूदी, ईसाई, इसलाम) मतों में धर्मव्यवस्था के भीतर तत्वचिंतन या ज्ञानकांड के लिये स्थान न होने के कारण आध्यात्मिक ज्ञानोपलब्धि रहस्यात्मक ढंग से (स्वप्न, संदेश, छाया-दर्शन आदि के द्वारा) ही माननी पड़ती थी। पहुँचे हुए भक्तों और संतों (सेंट्स) के संबंध में लोगों की यह धारणा थी कि जब वे आवेश की दशा में मूर्च्छित या बाह्यज्ञान शून्य होते हैं तब भीतर ही भीतर उनका 'ईश्वर के साथ संयोग' होता है और वे छायारूप में बहुत सी बातें देखते हैं। ईसाई धर्म में जब स्थूल एकेश्वरवाद (जो वास्तव में देववाद ही है) के स्थान पर प्राचीन आर्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित 'सर्ववाद'

(पेनथीज्म) लेने की आवश्यकता हुई तब वह बुद्धि द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के रूप में तो लिया नहीं जा सकता था, ईश्वर द्वारा रहस्यात्मक ढंग से प्रेषित ज्ञान के रूप में ही लिया जा सकता था। इससे परमात्मा और जीवात्मा के संबंध की वे ही बातें, जो यूनान या भारत के प्राचीन दार्शनिक कह गए थे, विलक्षण रूपकों द्वारा कुछ दुर्बोध और स्पष्ट बनाकर संत लोग कहा करते थे। अस्पष्टता और असंबद्धता इसलिये आवश्यक थी कि तथ्यों का साक्षात्कार छायारूप से ही माना जाता था। इस प्रकार अरब, फारस तथा योरप में भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद का चलन हुआ।

भारत में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति और प्रेम की प्रकृत पद्धति स्वीकृत थी अतः भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद की कोई आवश्यकता न हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का अलबत योग, तंत्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। इसके विकास में बौद्धों ने बहुत कुछ योग दिया था। हठयोग की परंपरा बौद्धों की ही थी। मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने उसे शैव रूप दिया। गोरखपंथ का प्रचार राजपूताने की ओर अधिक हुआ, इसी से उस पंथ के ग्रंथ राजस्थानी भाषा में लिखे गए हैं। मुसलमानी शासन के प्रारम्भ काल में इसी पंथ के साधु उत्तरीय भारत में अधिक घूमते दिखाई देते थे जिनकी रहस्यभरी बातें हिंदू और मुसलमान दोनों सुनते थे। मुसलमान अधिकतर खड़ी बोली बोलते थे, इससे इस पंथ के रमते साधु राजस्थानी मिली खड़ी बोली का व्यवहार करने लगे। इस प्रकार एक सामान्य सधुक्कड़ी भाषा बनी जिसका व्यवहार कबीर, दादू और निर्गुणी संतों ने किया।

अरब और फारस का भावात्मक रहस्यवाद लेकर जब सूफी हिंदुस्तान में आए तब उन्हें यही रहस्योन्मुख संप्रदाय मिला। इसी से उन्होंने हठयोग की बातों का बड़ी उत्कंठा के साथ अपने संप्रदाय में समावेश किया। जायसी आदि सूफी कवियों की पुस्तकों में योग और रसायन की बहुत सी बातें बिखरी मिलती हैं। रहस्यवादी सूफियों के प्रेमतत्व के साथ वेदांत के ज्ञानमार्ग की कुछ बातें जोड़कर जो निर्गुण पंथ चला उसमें भी 'इड़ा पिंगला, सुषमन नाड़ी' की बराबर चर्चा रही।

सूफियों ने हठयोगियों की जिन बातों को अपने मेल में देखा वे ये थीं :—

१. रहस्य की प्रवृत्ति।

२. ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूंढ़ना।

३. बाहरी पूजा और उपासना का त्याग।

ये तीनों बातें भारतीय भक्तिमार्ग से मेल खानेवाली नहीं थीं। भारतीय भक्ति पद्धति 'रहस्य' की प्रवृत्ति को भक्ति की सच्ची भावना में बाधक समझती है। भारतीय परंपरा का भक्त अपने उपास्य को बाहर लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है, अपने हृदय के कोने में नहीं। वह ध्यान भी करता है तो जगत के बीच अपनी प्रत्यक्ष कला का प्रकाश करते हुए व्यक्त ईश्वर का। तुलसी का वन के बीच राम का दर्शन करना प्रसिद्ध है, हृदय के भीतर नहीं।

इसी प्रकार भक्तिभावना में लीन होने पर वह सब कुछ 'राममय' देखता है और अपने से बाहर सब की पूजा करना चाहता है। हठयोगियों की बातें भक्ति की सच्ची भावना में किस प्रकार बाधा पहुँचाने वाली थीं इस बात को लोकदर्शी गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि पहचान गई। उनके समय में गोरखपंथी साधु योग की रहस्यमयी बातों का जो प्रचार कर रहे थे उसके कारण उन्हें जनता के हृदय से भक्तिभावना भागती दिखाई पड़ी—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है।

'ईश्वर को मन के भीतर ढूंढो' इस वाक्य ने भी पाषंड का बड़ा चौड़ा रास्ता खोला है। जो अपने को ज्ञानी प्रकट करना चाहते हैं वे प्रायः कहा करते हैं कि 'ईश्वर को अपने भीतर देखो।' गोस्वामी जी ललकार कर कहते हैं कि भीतर ही क्यों देखें, बाहर क्यों न देखें :—

अंतर्जामिहु तें बड़ बाहरजामी है राम जो नाम लिए तें।
पैंज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥

गोस्वामी जी का पक्ष है यदि मनुष्य के छोटे-से अंतःकरण के भीतर ईश्वर दिखाई भी पड़े तो भी अखिल विश्व के बीच अपनी विभूतियों से भासित होनेवाला ईश्वर उससे कहीं पूर्ण और कल्याणकारी है। हमारी बद्ध और संकुचित आत्मा केवल द्रष्टा हो सकती है, दृश्य नहीं। अतः यदि परमात्मा को, भगवान् को, देखना है तो उन्हें व्यक्त जगत् के संबंध से देखना चाहिए। इस मध्यस्थ के बिना आत्मा और परमात्मा का संबंध व्यक्त ही नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि भारतीय भक्ति मार्ग व्यक्तिकल्याण और लोककल्याण दोनों के लिए है।

वह लोक या जगत् को छोड़कर नहीं चल सकता। भक्ति मार्ग का सिद्धांत है, भगवान् को बाहर जगत् में देखना। मन के भीतर देखना' यह योग मार्ग का सिद्धांत हैं भक्ति मार्ग का नहीं। इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

भक्ति रागात्मिका वृत्ति है, हृदय का एक भाव है। प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुणसमूह पर टिक सकता है जो दृश्य जगत् में हमें आकर्षित करता हैं। इसी जगत् के बीच भासित होता हुआ स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलंबन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असंबद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असंभव है। भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर संतुष्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेय-पक्ष दोनों को लेकर चलती है।

बौद्धों की महायान शाखा का एक और अवशिष्ट 'अलखिया संप्रदाय' के नाम से उड़ीसा तथा उत्तरीय भारत के अनेक भागों में घूमता दिखाई पड़ता था।[1] यह भी महायान शाखा के बौद्धों के समान अंतःकरण के मन, बुद्धि, विवेक, हेतु और चैतन्य ये पाँच भेद बतलाता था और शून्य का ध्यान करने को कहता था। इस संप्रदाय का 'विष्णुगर्भपुराण' नामक ग्रंथ उड़िया भाषा में है जिसका संपादन प्रो० आर्तवल्लभ महंती ने किया है। उन्होंने इसका रचनाकाल १५५० ई० के पहले स्थिर किया है। इस पुस्तक के अनुसार विश्व के चारों ओर 'अलख' ही का प्रकाश हो रहा है। अलख ही विष्णु है जिससे निराकार की उत्पत्ति हुई। सारी सृष्टि अलख के गर्भ में रहती है। अलख अज्ञेय है। चारों वेद उसके संबंध मे कुछ भी नहीं जानते। अलख से प्रादुर्भूत निराकार तुरीयावस्था में रहता है और उसी दशा में उससे ज्योति की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टितत्व बौद्धों की महायान शाखा का है। 'अलख' संप्रदाय के साधु अपने को बड़े भारी रहस्य-दर्शी योगी और 'अलख' को लखने वाले प्रकट किया करते थे। ऐसा ही एक साधु गोस्वामी जी के सामने आकर 'अलख', 'अलख' करने लगा इस पर उन्होंने उसे इस प्रकार फटकारा —

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच॥

---

१. अब भी इस संप्रदाय के साधु दिखाई पड़ते हैं।

हम अपने साथ जगत् का जो संबंध अनुभव करते हैं उसी के मूल में भगवान् की सत्ता भी हमें देखनी चाहिए। 'जासों सब नातो फुरैं' उसी को हमें पहचानना चाहिए। जगत् के साथ हमारे जितने संबंध हैं सब राम के संबंध से हैं —

'नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।'

माता पिता जिस स्नेह से हमारा लालन पालन करते हैं, भाईबंधु, इष्टमित्र जिस स्नेह से हमारा हित करते हैं, उसे राम ही का स्नेह समझना चाहिए।

जिन जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा और रंजन होता है उन सबका समाहार अपनी परमावस्था को पहुँचा हुआ जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान् की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझकर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है—अनंत पुरुषोत्तम को उतनी मर्यादा के भीतर देखकर जितनी से लोक का परिचालन होता है—सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार क्षेत्र से परे, नामरूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिंतन का विषय है। वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारे भावों का, हमारी मनोवृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके। अतः अलक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से भागना है।

गोस्वामी जी पूरे लोकदर्शी थे। लोकधर्म पर आघात करनेवाली जिन बातों का प्रचार उनके समय में दिखाई पड़ा उनकी सूक्ष्म दृष्टि उन पर पूर्ण रूप से पड़ी।

भक्ति में बड़ी भारी शर्त है निष्कामता की। सच्ची भक्ति में लेनदेन का भाव नहीं होता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिये भक्ति का आनंद ही उसका फल है। वह शक्ति, सौंदर्य और शील के अनंत समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है। तुलसी इसी प्रकार के भक्त थे। कहते ये हैं कि वे एक बार वृन्दावन गए थे। वहाँ किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा—'आपके राम तो बारह कला के अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं?' गोस्वामी जी बड़े भोलेपन के साथ बोले —'हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ।' राम विष्णु के अवतार हैं इससे उत्तम फल या उत्तम गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस

निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है तो यही है। इसी भाव को उन्होंने इस दोहे में व्यंजित किया है—

जौ जगदीस तौ अति भलो, जौ महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि, राम चरन अनुराग ।।

तुलसी को राम का लोकरंजक रूप वैसा ही प्रिय लगता है जैसा चातक को मेघ का लोकसुखदायी रूप।

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह सिद्ध है कि शुद्ध भारतीय भक्तिमार्ग का 'रहस्यवाद' से कोई संबंध नहीं। तुलसी पूर्ण रूप में इसी भारतीय भक्तिमार्ग के अनुयायी थे अतः उनकी रचना को रहस्यवाद कहना हिंदुस्तान को अरव या विलायत कहना है। कृष्णभक्ति शाखा का स्वरूप आगे चलकर अवश्य ऐसा हुआ जिसमें कहीं-कहीं रहस्यवाद की गुंजाइश हुई। अपने मूल रूप में भागवत संप्रदाय भी विशुद्ध रहा। श्रीकृष्ण का लोकरक्षक और लोकरंजक रूप गीता में और भागवत पुराण में स्फुरित है। पर धीरे-धीरे वह स्वरूप आवृत होता गया और प्रेम का आलंवन मधुर रूप ही शेष रह गया। वल्लभाचार्यजी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोकसंग्रही रूप हटाया। उन्होंने लोक और वेद दोनों की मर्यादा का अतिक्रमण अपने सप्रदाय में आवश्यक ठहराया। लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकांक प्रेमसाधना के रूप में ही रह गई। इतना होने पर भी सूरदास, नंददास आदि महाकवियों ने कृष्ण को इसी जगत् के वीच वृन्दावन में रखकर देखा। उन्होंने रहस्यवाद का रंग अपनी कविता पर नहीं चढ़ाया।

मुसलमानी अमलदारी में सूफी पीरों और फकीरों का पूरा दौरदौरा रहा। लोकसंग्रह का भाव लिए रहने के कारण रामभक्ति शाखा पर तो उनका असर न पड़ा। पर कृष्णभक्ति शाखा लोक को परे फेंककर व्यक्तिगत एकांतसाधना का रंग पकड़ चुकी थी इससे उसके कई प्रसिद्ध भक्तों पर सूफियों का पूरा प्रभाव पड़ा। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। जैसे सूफी कव्वाल गाते-गाते 'हाल' की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभु की मंडली भी नाचते-नाचते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्यसंक्रमण का एक लक्षण है। इसी प्रकार मीरावाई भी 'लोकलाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली और विरह में व्याकुल रहा करती थीं। नागरीदासजी भी इश्क का

प्याला पीकर इसी प्रकार झूमा करते थे। यहीं तक नहीं माधुर्यभाव को उपासना लेकर कई प्रकार के सखी संप्रदाय भी चले जिनमें समय-समय पर प्रियतम के साथ संयोग हुआ करता है। एक कृष्णोपासक संप्रदाय स्वामी प्राणनाथजी ने चलाया जो न तो द्वारका, वृन्दावन आदि तीर्थों को कोई महत्त्व देता है और न मंदिरों में श्रीकृष्ण की मूर्तियों का दर्शन करने जाता है। वह इस वृन्दावन और इसमें विहार करने वाले कृष्ण को गोलोक की नित्यलीला की एक छाया मात्र मानता है।

जिस प्रकार मद, प्याला, मूर्च्छा और उन्माद सूफी रहस्यवादियों का एक लक्षण है उसी प्रकार प्रियतम ईश्वर के विरह की वहुत वढ़ी-चढ़ी भाषा में व्यंजना करना भी सूफी कवियों की एक रूढ़ि है। यह रूढ़ि भारतीय भक्त कवियों के विनय में न पाई जायगी। भारतीय भक्त तो अपनी व्यक्तिगत सत्ता के बाहर सर्वत्र भगवान् का नित्य लीलाक्षेत्र देखता है। उसके लिये विरह कैसा ?

लोकनीति और मर्यादावाद

गोस्वामीजी का समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है, अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा। प्रोत्साहन और प्रतिबंध द्वारा मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखने वाला तत्त्व धर्म है जो दो प्रकार का है—साधारण और विशेष। मनुष्य मात्र का मनुष्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्तव्य होता है, उसके अतिरिक्त स्थिति या व्यवसायविशेष के अनुसार भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं। जैसे माता-पिता के प्रति पुत्र का, पुत्र के प्रति पिता का, राजा के प्रति प्रजा का, गुरु के प्रति शिष्य का, ग्राहक के प्रति दुकानदार का, छोटों के प्रति बड़ों का इत्यादि इत्यादि। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ी है, समाज में वर्णविधान हुआ है, त्यों-त्यों इन धर्मों का विस्तार होता गया है। पारिवारिक जीवन में से निकलकर समाज में जाकर उनकी अनेक रूपों में प्रतिष्ठा हुई है। संसार के और देशों में जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें 'सारण'

धर्म का ही पूर्ण समावेश हो सका, विशेष धर्मों की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सरस्वती और दृशद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य सभ्यता के अन्तर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह वर्णाश्रम धर्म कहलाया। उसमें लोक-संचालन के लिये ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल और सेवाबल का सामजस्य घटित हुआ जिसके अनुसार केवल कर्मों की ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई। जिस प्रकार ब्राह्मण के धर्म पठनपाठन, तत्त्वचिंतन, यज्ञादि हुए उसी प्रकार शांत और मृदु वचन तथा उपकार बुद्धि, नम्रता, दया, क्षमा आदि भावों का अभ्यास भी। क्षत्रियों के लिये जिस प्रकार शस्त्रग्रहण धर्म हुआ, उसी प्रकार जनता की रक्षा, उसके दुःख से सहानुभूति आदि भी। और वर्णों के लिये जिस प्रकार अपने नियत व्यवसायों का सम्पादन कर्तव्य ठहराया गया, उसी प्रकार अपने से ऊँचे कर्तव्य वालों अर्थात् लोकरक्षा द्वारा भिन्न-भिन्न व्यवसायों का अवसर देने वालों के प्रति आदर-सम्मान का भाव भी। वचनव्यवस्था और भावव्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होती। हृदय का योग जब तक न होगा, तब तक न कर्म सच्चे होंगे, न अनुकूल वचन निकलेंगे। परिवार में जिस प्रकार ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि की विचित्रता से समाज में भी ऊँची-नीची श्रेणियाँ रहेंगी। कोई आचार्य होगा कोई शिष्य, कोई राजा होगा कोई प्रजा, कोई अफसर होगा कोई मातहत, कोई सिपाही होगा कोई सेनापति। यदि बड़े छोटों के प्रति दुःशील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगें, यदि छोटे बड़ों का आदर सम्मान छोड़कर उन्हें आँख दिखाकर डाटने लगें तो समाज चल ही नहीं सकता। इसी से शूद्रों का द्विजों को आँख दिखाकर डाँटना, मूर्खों का विद्वानों का उपहास करना गोस्वामीजी को समाज की धर्मशक्ति का ह्रास समझ पड़ा।

ब्राह्मणों की मति को 'मोह, मद, रिस, राग और लोभ' यदि निगल जाय, राजसमाज यदि नीतिविरुद्ध आचरण करने लगे, शूद्र यदि ब्राह्मणों को आँख दिखाने लगें, अर्थात् अपने अपने धर्म से समाज की सब श्रेणियाँ च्युत हो जाएँ, तो फिर से लोकधर्म की स्थापना कौन कर सकता है? गोस्वामीजी कहते हैं 'राज्य' 'सुराज्य' 'रामराज्य'। राज्य की कैसी व्यापक भावना है? आदर्श राज्य केवल बाहर-बाहर कर्मों का प्रतिबंधक और उत्तेजक नहीं है, हृदय को

स्पर्श करने वाला है, उसमें लोक रक्षा के अनुकूल भावों की प्रतिष्ठा करने वाला है। यह धर्म राज्य है—इसका प्रभाव जीवन के छोटे-वड़े सब व्यापारों तक पहुँचने वाला है, समस्त मानवी प्रकृति का रंजन करने वाला है। इस राज्य की स्थापना केवल शरीर पर ही नहीं होती, हृदय पर भी होती है। यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है—आदर्श व्यक्ति का परिवर्धित रूप है। इसके जिस प्रकार हाथ-पैर हैं, उसी प्रकार हृदय भी है, जिसकी रमणीयता के अनुभव से प्रजा आप से आप धर्म की ओर प्रवृत्त होती है। रामराज्य में—

बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति रीति।।

लोग जो बैर छोड़कर परस्पर प्रीति करने लगे, वह क्या राम के वाहुवल के प्रताप से, दंडभय से ? दंडभय से लोग इतना ही कर सकते हैं कि किसी को मारें-पीटें नहीं, यह नहीं कि किसी से मन में भी बैर न रखें, सबसे प्रीति रखें। सुशीलता की पराकाष्ठा राम के रूप में हृदयकर्षिणी शक्ति होकर उनके बीच प्रतिष्ठित थी। उस शक्ति के सम्मुख प्रजा अपने हृदय की सुन्दर वृत्तियों को कर-स्वरूप समर्पित करती थी। केवल अर्जित वित्त के प्रदान द्वारा अर्थशक्ति खड़ी करने से समाज को धारण करने वाली पूर्ण शक्ति का विकास नहीं हो सकता। भारतीय सभ्यता के वीच राजा धर्मशक्तिस्वरूप है, पारस और वावुल के वादशाहों के समान केवल धनवल और वाहुवल की पराकाष्ठा मात्र नहीं। यहाँ राजा सेवक और सेना के होते हुए भी शरीर से अपने धर्म का पालन करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि प्रजा की पुकार संयोग से उसके कान में पड़ती है, तो वह आप ही रक्षा के लिए दौड़ता है, ज्ञानी महात्माओं को सामने देख सिंहासन छोड़कर खड़ा हो जाता है, प्रतिज्ञा के पालन के लिये शरीर पर अनेक कष्ट झेलता है, स्वदेश की रक्षा के लिये रणक्षेत्र में आगे दिखाई पड़ता है, प्रजा के सुख-दुःख में साथी होता है, ईश्वरांश माने जाने पर भी मनुष्यांश नहीं छोड़ता है। वह प्रजा के जीवन से दूर वैठा हुआ, उसमें किसी प्रकार का योग न देने वाला खिलौना या पुतला नहीं है। प्रजा अपने सब प्रकार के उच्च भावों का—त्याग का, शील का, पराक्रम का, सहिष्णुता का, क्षमा का—प्रतिविम्व उसमें देखती है।

राजा के पारिवारिक और व्यावहारिक जीवन को देखने की मजाल प्रजा को थी—देखने की ही नहीं, उस पर टीकाटिप्पणी करने की भी। राजा अपने

पारिवारिक जीवन में भी यदि कोई ऐसी बात पावे जो प्रजा को देखने में अच्छी न लगती हो, तो उसका सुधार आदर्शरक्षा के लिये कर्तव्य माना जाता था। सती सीता के चरित्र पर दोषारोप करने वाले धोबी का सिर नहीं उड़ाया गया, और मानसिक व्यथा सहकर भी उस दोष के परिहार का यत्न किया गया। सारांश यह कि माता, पिता, सेवक और सखा के साथ भी जो व्यवहार राजा का हो, वह ऐसा हो जिसकी उच्चता को देख प्रजा प्रसन्न हो, धन्य-धन्य कहे। जिस प्रीति और कृतज्ञता के साथ महाराज रामचन्द्र ने सुग्रीव, विभीषण और निषाद आदि को विदा किया, उसे देख प्रजा गद्गद हो गई—

रघुपति चरित देखि पुरवासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥

राजा की शीलशक्ति के प्रभाव के वर्णन में गोस्वामीजी ने कवि-प्रथा के अनुसार कुछ अतिशयोक्ति भी की ही है—

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

काव्यपद्धति से परिचित इसे पढ़कर कभी यह सवाल नहीं करेंगे कि मृगों का मारना छोड़ सिंह क्या घास खाकर जीते थे।

देखिए, राजकुल की महिलाओं के इस उच्च आदर्श का प्रभाव जनता के पारिवारिक जीवन पर कैसा सुखद पड़ सकता है—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा विधि गुनी॥
निज कर गृहपरिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥

जिस वर्णाश्रम धर्म का पालन प्रजा करती थी, उसमें ऊँची-नीची श्रेणियाँ थीं, उसमें कुछ काम छोटे माने जाते थे, कुछ बड़े। फावड़ा लेकर मिट्टी खोदने वाले और कलम लेकर वेदांतसूत्र लिखने वाले के काम एक ही कोटि के नहीं माने जाते थे। ऐसे दो काम अब भी एक दृष्टि से नहीं देखे जाते। लोकदृष्टि उसमें भेद कर ही लेती है। इस भेद को किसी प्रकार की कितनी चुपड़ी भाषा या पाखंड नहीं मिटा सकता। इस भेद के रहते हुए भी—

वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग॥

छोटे समझे जाने वाले काम करने वाले बड़े काम करने वालों को ईर्ष्या

और द्वेष की दृष्टि से क्यों नहीं देखते थे। वे यह क्यों नहीं कहते थे कि हम क्यों फावड़ा चलावें, क्यों दूकान पर बैठें ? भूमि के अधिकारी क्यों न बनें ? गद्दी लगाकर धर्मसभा में क्यों न बैठे ? समाज को अव्यवस्थित करने वाले इस भाव को रोकने वाली पहली बात तो थी समाज के प्रति कर्तव्य के भार का नीची श्रेणियों में जाकर क्रमशः कम होना। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिये अपने व्यक्तिगत सुख का हर घड़ी त्याग करने के लिये तैयार रहना पड़ता था। ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पड़ती थी। क्षत्रियों को अवसर विशेष पर अपना सर्वस्व—अपने प्राण तक—छोड़ने के लिए उद्यत होना पड़ता था। शेष वर्गों को अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख की व्यवस्था के लिये सब अवस्थाओं में पूरा अवकाश रहता था। अतः उच्च वर्ग में अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ अधिक कठिन कर्तव्यों की योजना और निम्न वर्गों में कम मान और कम सुख के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना जीवननिर्वाह की दृष्टि से स्थिति में सामंजस्य रखती थी।

जब तक उच्च श्रेणियों के कर्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी—कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे—तब तक नीची श्रेणियों में ईर्ष्याद्वेष का भाव नहीं जाग्रत हो सकता। जब तक वे क्षत्रियों को अपने चारों ओर धन-जन की रक्षा में तत्पर देखेंगे, ब्राह्मणों को ज्ञान की रक्षा और वृद्धि में सब कुछ त्यागकर लगे हुए पावेंगे, तब तक वे अपना सब कुछ उन्हीं की बदौलत समझेंगे और उनके प्रति उनमें कृतज्ञता, श्रद्धा और मान का भाव बना रहेगा। जब कर्तव्य भाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार भाग ज्यों-का-त्यों रहेगा, तब स्थिति विघातिनी विषमता उत्पन्न होगी। ऊँची श्रेणियों के अधिकार प्रयोग में ही प्रवृत्त होने से नीची श्रेणियों को क्रमशः जीवननिर्वाह में कठिनता दिखाई देगी। वर्ण-व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख ही में समय काटें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहें। रामराज्य में सब अपनी स्थिति में प्रसन्न थे--

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ॥

इतनी बड़ी जनता के पूर्ण सुख की व्यवस्था साधारण परिश्रम का काम नहीं है, पर राजा के लिये वह आवश्यक है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

ऊँची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही यूरोप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर 'लेनिन' अपने समय में महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर अमंगल का सूचक है। मूर्ख जनता के इस माहात्म्य प्रदान पर न भूलना चाहिए, यह बात गोस्वामीजी साफ-साफ कहते हैं—

तुलसी भेड़ी की धँसनि, जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान॥

जड़ जनता के सम्मान का पात्र वही होगा जो उसके अनुकूल कार्य करेगा। ऐसा कार्य लोकमंगलकारी कभी नहीं हो सकता। जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कलाकौशल, बल, बुद्धि के असामान्य उत्कर्ष की संभावना कभी नहीं रहेगी, प्रतिभा का विकास कभी नहीं रहेगा। रूस से भारी-भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है। अल्प शक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करनेवाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है। उत्कर्ष विशेष परिस्थिति में होता है। परिस्थिति विशेष के अनुरूप किसी वर्ग में विशेषता का प्रादुर्भाव ही उत्कर्ष या विकास कहलाता है, इस बात को आजकल के विकासवादी भी अच्छी तरह जानते हैं। इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहाँ हो, उसे हमारे यहाँ के लोग 'अंधेर नगरी' कहते आए हैं।

गोस्वामीजी ने कलिकाल का जो चित्र खींचा है वह उन्हीं के समय का है। उसमें उन्होंने 'साधारण धर्म' और 'विशेष धर्म' दोनों का ह्रास दिखाया है। साधारण धर्म के ह्रास की निंदा तो सबको अच्छी लगती है, पर विशेष धर्म के ह्रास की निंदा—समाज-व्यवस्था के उल्लंघन की निंदा—आजकल की अव्यवस्था को अपने महत्त्व का द्वार समझने वाले कुछ लोगों को नहीं सुहाती। वे इन चौपाइयों में तुलसीदासजी की संकीर्ण हृदयता देखते हैं—

निराचार जो स्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥

जे वरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा ।।
नारि मुई घर संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी ।।
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं ।।
सूद्र करहिं जप तप व्रत दाना। बैठि वरासन कहहिं पुराना ।।

पर इसी प्रसंग में गोस्वामीजी के इस कथन को वे बड़े आनंद से स्वीकार करते हैं—

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी ।।

गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे, मर्यादा का भंग वे लोक के लिये मंगलकारी नहीं समझते थे। मर्यादा का उल्लंघन देखकर ही वलरामजी वरासन पर वैठकर पुराण कहते हुए सूत पर हल लेकर दौड़े थे। शूद्रों के प्रति यदि धर्म और न्याय का पूर्ण पालन किया जाय, तो गोस्वामीजी उनके धर्म को ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो। वर्ण-विभाग केवल कर्म-विभाग नहीं है, भाव-विभाग भी है। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियों के नियमित अनुष्ठान और अभ्यास के लिये भी वे समाज में छोटी-वड़ी श्रेणियों का विधान आवश्यक समझते थे। इन भावों के लिये आलंवन ढूंढना एकदम व्यक्ति के ऊपर ही नहीं छोड़ा गया था। इनके आलंवनों की प्रतिष्ठा समाज ने कर दी थी। समाज में वहुत से ऐसे अनुन्नत अंतःकरण के प्राणी होते हैं, जो इन आलंबनों को नहीं चुन सकते। अतः उन्हें स्थूल रूप से यह बता दिया गया कि अमुक वर्ग यह कार्य करता है, अतः यह तुम्हारी दया का पात्र है, अमुक वर्ग इस कार्य के लिए नियत है, अतः यह तुम्हारी श्रद्धा का पात्र है। यदि उच्च वर्ग का कोई मनुष्य अपने धर्म से च्युत है, तो उसकी विगर्हणा, उस के शासन और उसके सुधार का भार राज्य के या उसके वर्ग के ऊपर है, निम्न वर्ग के लोगों पर नहीं। अतः लोकमर्यादा की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोगों का धर्म यही है कि उस पर श्रद्धा का भाव रखें, न रख सकें तो कम से कम प्रकट करते रहें। इसे गोस्वामीजी का 'सोशल डिसिप्लिन' समझिए। इसी भाव से उन्होंने प्रसिद्ध नीतिज्ञ और लोकव्यवस्थापक चाणक्य का यह वचन—

पतितोपिऽद्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।

अनुवाद करके रख दिया—

पूजिय विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना ।।

जिसे कुछ लोग उनका जातीय पक्षपात समझते हैं। जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा को क्या मतलब हो सकता है—

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न संकोचु मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।

काकभुशुंडि की जन्मांतरवाली कथा द्वारा गोस्वामीजी ने प्रकट कर दिया है कि लोकमर्यादा और शिष्टता के उल्लंघन को वे कितना बुरा समझते थे। काकभुशुंडि अपने शूद्र जन्म की बात कहते हैं—

एक बार हरि मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम ॥
गुरु आएउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम ॥
गुरु दयालु नहिं कछु कहेउ उर न रोष लवलेस ॥
अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेस ॥
मंदिर माँझ भई नभ बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी ॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपाल उर सम्यक बोधा ॥
तदपि साप हठि देइहउँ तोहीं। नीति बिरोध सुहाइ न मोहीं ॥
जौं नहिं दंड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होइ स्रुति मारग मोरा ॥

श्रुति-प्रतिपादित लोकनीति और समाज के सुख का विधान करने वाली शिष्टता के ऐसे भारी समर्थक होकर वे अशिष्ट संप्रदायों की उच्छृंखलता, बड़ों के प्रति उनकी अवज्ञा चुपचाप कैसे देख सकते थे।

ब्राह्मण और शूद्र, छोटे और बड़े के बीच कैसा व्यवहार वे उचित समझते थे, यह चित्रकूट में वशिष्ठ और निषाद के मिलने में देखिए—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू ॥
रामसखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥

केवट अपनी छोटाई के विचार से वशिष्ठ ऐसे ऋषीश्वर को दूर ही से प्रणाम करता है पर ऋषि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देकर उसे बार-बार गले लगाते हैं। वह हटता जाता है, वे उसे 'बरबस' भेंटते हैं। इस उच्चता से किस नीच को द्वेष हो सकता है? यह उच्चता किसे खलने वाली हो सकती है?

काकभुशुंडिवाले मामले में शिवजी ने शाप देकर लोकमत की रक्षा की

और काकभुशुंडि के गुरु ने कुछ न कहकर साधुमत[1] का अनुसरण किया। साधु-मत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासन के लिये है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामीजी की धर्मभावना के भीतर है। चित्रकूट में भरत की ओर से वशिष्ठजी जब सभा में प्रस्ताव करने उठते हैं, तब राम से कहते हैं—

भरत विनय सादर सुनिय करिय विचार बहोरि।
करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

गोस्वामीजी अपने राम या ईश्वर तक को लोकमत के वशीभूत कहते हैं—

लोक एक भाँति को, त्रिलोकनाथ लोकवस,
आपनो न सोच, स्वामी सोच ही सुखात हौं।

जबकि दुनिया एक मुँह से तुलसी को बुरा कह रही है तब उन्हें अपनाने का विचार करके राम बड़े असमंजस में पड़ेंगे। तुलसी के राम स्वेच्छाचारी शासक नहीं, वे लोक के वशीभूत हैं क्यों लोक भी वास्तव में उन्हीं का व्यक्त विस्तार है।

अब तक जो कुछ कहा गया, उससे गोस्वामीजी व्यक्तिवाद (इंडिविडु-अलिज्म) के विरोधी और लोकवाद (सोशलिज्म) के समर्थक से लगते हैं। व्यक्तिवाद के विरुद्ध उनकी ध्वनि स्थान-स्थान पर सुनाई पड़ती है, जैसे—

(क) मारग सोइ जा कहँ जो भावा।
(ख) स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार।

पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी नहीं हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिये कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आच-रण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक संबंधों का सामंजस्य बना रहे। राजा प्रजा, उच्च नीच, धनी दरिद्र, सबल निर्बल, शास्य शासक, मूर्ख पंडित, पति पत्नी, गुरु शिष्य, पिता पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेक रूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित हैं, उनके निर्वाह के अनुकूल मन (भाव) वचन और कर्म की

१. उमा संत कै इहै बड़ाई। भेद करत जो करहि भलाई॥

व्यवस्था ही उनका लक्ष्य है, क्योंकि इन संबंधों के सम्यक् निर्वाह से ही वे सबका कल्याण मानते हैं। इन संबंधों की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति प्राधान्य वाद के वे अवश्य विरोधी हैं।

समाज की इस आदर्श व्यवस्था के वीच स्त्रियों और शूद्रों का स्थान क्या है, आजकल के सुधारक इसका पता लगाना वहुत जरूरी समझेंगे। उन्हें यह जानना चाहिए कि तुलसीदासजी कट्टर मर्यादावादी थे, कार्यक्षेत्रों के प्राचीन विभाग के पूरे समर्थक थे। पुरुषों की अधीनता में रहकर गृहस्थी का कार्य संभालना ही वे स्त्रियों के लिये वहुत समझते थे। उन्हें घर के वाहर निकालने वाली स्वतंत्रता को वे बुरा समझते थे। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'जिमि स्वतंत्र होइ विगरहिं नारी' कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियों पर था जैसी कि साधारणतः पाई जाती हैं, गार्गी और मैत्रेयी की ओर नहीं। उन्हें गार्गी और मैत्रेयी वनाने की चिंता उन्होंने कहीं प्रकट नहीं की है। हाँ, भक्ति का अधिकार जैसे सबको है, वैसे ही उनको भी मीरावाई को लिखा हुआ जो पद (विनय का) कहा जाता है, उससे प्रकट होता है कि भक्तिम.र्ग में सबको उत्साहित करने के लिये वे तैयार रहते थे। इसमें वे किसी बात की रिआयत नहीं रखते थे। रामभक्ति में यदि परिवार या समाज वाधक हो रहा है, तो उसे छोड़ने की राय वे वेधड़क देंगे—पर उन्हीं को जिन्हें भक्तिमार्ग में पक्का समझेंगे। सव स्त्रियाँ घरों से निकलकर वैरागियों की सेवा में लग जायँ, यह अभिप्राय उनका कदापि नहीं। स्त्रियों के लिये साधारण उपदेश उनका वही समझना चाहिए जो 'ऋषिवधू' ने 'सरल मृदु वानी' से सीताजी को दिया था।

उन पर स्त्रियों की निंदा का महापातक लगाया जाता है, पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिये किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए। सव रूपों में स्त्रियों की निंदा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दांपत्य रति के आलंबन के रूप में, की है माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्री जाति के प्रति उन्हें कोई द्वेष नहीं था। अतः उक्त रूप में स्त्रियों की जो निंदा उन्होंने की है, वह अधिकार तो अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने के लिये, और कुछ लोक की अत्यंत आसक्ति को कम करने के विचार से। उन्होंने प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों के लिये कुछ न कुछ कहा है। उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओं के लिये हैं, कुछ

साधारण गृहस्थों के लिये, कुछ विद्वानों और पंडितों के लिये। अतः स्त्रियों को जो स्थान-स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं, बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिये उन्हें वैसा ही मान लेना चाहिए। किसी वस्तु से विरक्त करना जिसका उद्देश्य है वह अपने उद्देश्य का साधन उसे बुरा कहकर ही कर सकता है। अतः स्त्रियों के संबंध में गोस्वामीजी ने जो कहा है, वह सिद्धांत वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है। पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिये इस युक्ति का अवलंबन गोस्वामी जी ऐसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिये सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निंदा से उनका जी दुःख सकता है। स्त्रियों से काम उत्पन्न होता है, धन से लोभ उत्पन्न होता है, प्रभुता से मद उत्पन्न होता है, इसलिये काम, मद, लोभ आदि से बचने की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये वैराग्य का उपदेश देने वाले कंचन, कामिनी और प्रभुत्व की निंदा कर दिया करते हैं। बस इसी रीति का पालन बाबाजी ने भी किया है। वे थे तो वैरागी ही। यदि कोई संन्यासिनी अपनी बहिनों को काम, क्रोध आदि से बचने का उपदेश देने बैठे तो पुरुषों को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब अवगुणों की खान' कह सकती है। पुरुष पतंगों के लिये गोस्वामीजी ने स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रकार स्त्री पतंगियों के लिये वह पुरुषों को भाड़ कहेगी।

सिद्धांत और अर्थवाद में भेद न समझने के कारण ही गोस्वामीजी की बहुत सी उक्तियों को लेकर लोग परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं। वे प्रसंग-विशेष में कवि के भीतरी उद्देश्य की खोज न करके केवल शब्दार्थ ग्रहण करके तर्कवितर्क करते हैं। जैसे एक स्थान पर वे कहते हैं—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥

फिर दूसरे स्थान पर कहते हैं—

नीच निचाई नहिं तजैं जौ पावैं सतसंग।

इनमें से प्रथम उक्ति सत्संग की महिमा हृदयंगम कराने के लिये की गई है और दूसरी उक्ति नीच या शठ की भीषणता दिखाने के लिये। एक का उद्देश्य है सत्संग की स्तुति और दूसरी का दुर्जन की निंदा। अतः ये दोनों सिद्धान्त रूप में नहीं हैं, अर्थवाद के रूप में हैं। ये पूर्ण सत्य नहीं हैं, आंशिक सत्य हैं, जिनका

उल्लेख कवि, उपदेशक आदि प्रभाव उत्पन्न करने के लिये करते हैं। काव्य का उद्देश्य शुद्ध विवेचन द्वारा सिद्धान्त निरूपण नहीं होता, रसोत्पादन या भाव-संचार होता है। बुद्धि की क्रिया की कविजन आंशिक सहायता ही लेते हैं।

अब रहे शूद्र। समाज चाहे किसी ढंग का हो, उसमें छोटे काम करने वाले तथा अपनी स्थिति के अनुसार अल्प विद्या, बुद्धि, शील और शक्ति रखने वाले कुछ न कुछ रहेंगे ही। ऊँची स्थिति वालों के लिये जिस प्रकार इन छोटी स्थिति के लोगों की रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ कोमल व्यवहार करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन छोटी स्थिति वालों के लिये बड़ी स्थिति वालों के प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करना भी। नीची श्रेणी के लोग अहंकार से उन्मत्त होकर ऊँची श्रेणी के लोगों का अपमान करने पर उद्यत हों, तो व्याव-हारिक दृष्टि से उच्चता किसी काम की न रह जाय। विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, शील और वैभव यदि अकारण अपमान से कुछ अधिक रक्षा न कर सकें तो उनका सामाजिक मूल्य कुछ भी नहीं। ऊँची-नीची श्रेणियाँ समाज में बराबर थीं और बराबर रहेंगी। अतः शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यन्त न्यून का—बोधक मानना चाहिए। इतनी न्यूनताओं को अलग-अलग न लिखकर वर्णविभाग के आधार पर उन सबके लिये एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है। इस बात को मनुष्य जातियों का अनुसंधान करने वाले आधुनिक लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि वन्य और असभ्य जातियाँ उन्हीं का आदर-सम्मान करती हैं जो उनमें भय उत्पन्न कर सकते हैं। यही दशा गँवारों की है। इस बात को गोस्वामीजी ने अपनी चौपाई में कहा है—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

जिससे कुछ लोग इतना चिढ़ते हैं। चिढ़ने का कारण है, 'ताड़न' शब्द जो ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिये लाया गया है। 'स्त्री' का समावेश भी सुरुचि विरुद्ध लगता है, पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।

शीलसाधना और भक्ति

लोकमर्यादा पालन की ओर जनता का ध्यान दिलाने के साथ ही गोस्वामी जी ने अन्तःकरण की सामान्य से अधिक उच्चता सम्पादन के लिये शीलोत्कर्ष की साधना का जो अभ्यासमार्ग मानव हृदय के बीच से निकाला वह अत्यन्त आलोकपूर्ण और आकर्षक है। शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलंवन स्थिर करके उन्होंने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया। उन्होंने राम के शील का ऐसा विशद और मर्मस्पर्शी चित्रण किया कि मनुष्य का हृदय उसकी ओर आप से आप आकर्षित हो। ऐसे शील-स्वरूप को देखकर भी जिसका हृदय द्रवीभूत न हो, उसे गोस्वामीजी जड़ समझते हैं। वे कहते हैं—

सुनि सीतापति शील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपन तें पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम विधुवदन रिसौंहै सपनेहु लखेउ न काउ॥
खेलत संग अनुज वालक नित जुगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला साप संताप विगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सौ न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ॥
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ जायँ परि इतो न अनत समाउ॥
कह्यौ राज वन दियो नारि वस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
कवि सेवा वस भए कनौड़े, कह्यौ पवन सुत साउ।
दैवै को न कछू ऋनिया हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव विभीषन तिन न तज्यो छल छाउ।
भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम सुनत जस बरनत सुनत कहत 'फिरि गाउ'॥

इस दया, इस क्षमा, इस संकोचभाव, इस कृतज्ञता, इस विनय, इस सरलता को राम ऐसे सर्वशक्ति-सम्पन्न के आश्रय में जो लोकोत्तर चमत्कार प्राप्त हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शील और शक्ति के इस संयोग में मनुष्य ईश्वर के लोकपालक रूप का दर्शन करके गद्‌गद हो जाता है। जो गद्‌गद न हो, उसे मनुष्यता से नीची कोटि में समझना चाहिए। असामर्थ्य के योग में इन उच्च वृत्तियों के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। राम में शील की यह अभिव्यक्ति आकस्मिक नहीं—अवसरविशेष की प्रवृत्ति नहीं—उनके स्वभाव के अन्तर्गत है, इसका निश्चय कराने के लिये बाबाजी उसे 'सिसुपन' से लेकर अन्त तक दिखाते हैं। यह सुशीलता राम के स्वरूप के अन्तर्गत है। जो उस शील-स्वरूप पर मोहित होगा, वही राम पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो सकता है।

भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदासजी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौंदर्य, शक्ति और शील, तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर चढ़ता है। इनमें से प्रथम सोपान ऐसा सरल है कि स्त्री-पुरुष, मूर्ख-पंडित, राजा-रंक सब उस पर अपने हृदय को बिना प्रयास अड़ा देते हैं। इसकी स्थापना गोस्वामीजी ने राम के रूपमाधुर्य का अत्यन्त मनोहर चित्रण करके की है। शील और शक्ति से अलग अकेले सौंदर्य का प्रभाव देखना हो तो वन जाते हुए राम-जानकी को देखने पर ग्रामवधुओं की दशा देखिए—

(क) तुलसी रही हैं ठाढ़ी, पाहन गढ़ी सी काढ़ी,
कौन जाने कहाँ तें आई, कौन की, को ही।

(ख) बनिता बनी स्यामल गौर के बीच बिलोकहु री सखि ! मोहिं सी ह्वै।
मग जोग न, कोमल क्यों चलिहै ? सकुचाति मही पद पंकज छ्वै।
तुलसी सुनि ग्राम वधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै।

यह सौंदर्य उन भोली स्त्रियों की दया को कैसा आकर्षित करता है। वे खड़ी-खड़ी पछताती हैं कि—

पायँन तौ पनहीं न, पयादेहि क्यों चलिहै ? सकुचात हियो है।

ऐसी अनन्त रूपराशि के सामीप्यलाभ के लिये, उसके प्रति सुहृद भाव प्रदर्शित करने के लिये जी ललचाता है। ग्रामीण स्त्रियों ने जिनके अलौकिक रूप को देखा, अब उनके वचन सुनने को वे उत्कंठित हो रही हैं—

घरि धीर कहै चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं।
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं॥

परिचय बढ़ाने की उत्कंठा के साथ 'आत्मत्याग' की भी प्रेरणा आप से आप हो रही है, और वे कहती हैं—

'कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहै।'

कैसे पवित्र प्रेम का उद्‌गार हैं। इस प्रेम में कामवासना का कुछ भी लेश नहीं है। राम-जानकी के दाम्पत्य भाव को देख वे गद्‌गद हो रही हैं—

सीस जटा, उर वाहु विसाल, विलोचन लाल, तिरीछी सी भौहैं।
तून, सरासन, वान धरे, तुलसी वन मारग में सुठि सोहैं॥
सादर वारहि वार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामवधू सिय सों, कहौ साँवरे से,. सखि, रावरे को हैं ?

'चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं' कैसा भावगर्भित वाक्य है। इसमें एक तो राम के आचरण की पवित्रता और दूसरी ओर ग्राम-वनिताओं के प्रेम-भाव की पवित्रता दोनों एक साथ झलकती है। राम सीता की ओर ही देखते हैं, उन स्त्रियों की ओर नहीं। उन स्त्रियों की ओर ताकते तो वे कहतीं कि 'चितै हम त्यौं हमरो मन मोहैं'। उनके मोहित होने को हम कुछ-कुछ कृष्ण की चितवन पर गोपियों के मोहित होने के समान ही समझते। अतः 'हम' के स्थान पर इस 'तुम' शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे 'असंगति' का ही चमत्कार देख संतोष कर ले, पर इसके भीतर जो पवित्र भावव्यंजना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है।

इस सौंदर्य-राशि के वीच में शील की थोड़ी-सी मृदुल आभा भी गोस्वामी जी दिखा देते हैं—

सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्राम बधुन्ह कै बैन।
तुलसी प्रभु तरु तर विलम्व, किए प्रेम कनौड़े कै न॥

यह 'सुचि सरल सनेह' तुरन्त समाप्त नहीं हो गया, वहुत दिनों तक बना

रहा—कान जाने जीवन-भर बना रहा हो। राम के चले जाने पर बहुत दिनों पीछे तक, जान पहचान न होते हुए भी, उनकी चर्चा चलती रही—

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।
गए जे पथिक गोरे साँवरे सलोने,
सखि! संग नारि सुकुमारि रही॥
जानि पहिचानि बिनु आपु तें,
आपुनेहू तें, प्रानहूँ ते प्यारे प्रियतम उपही।
बहुरि बिलोकिबे कबहुँक कहत,
तनु पुलक नयन जलधार बही॥

जिसके सौंदर्य पर ध्यान टिक गया, जिसके प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव हो गया, उसकी और बातों में भी जी लगने लगता है। उसमें यदि बल-पराक्रम आदि भी दिखाई दे तो उस बल-पराक्रम के महत्त्व का अनुभव हृदय बड़े आनन्द से करता है। गोस्वामीजी ने राम के अलौकिक सौंदर्य का दर्शन कराने के साथ ही उनकी अलौकिक शक्ति का भी साक्षात्कार कराया है। ईश्वरावतार उस राम से बढ़कर शक्तिमान् विश्व में कौन हो सकता है 'लव निमेष परमान जुग, काल जासु कोदंड।' इस अनन्त सौंदर्य और अनन्त शक्ति में अनन्त शील की योजना हो जाने से भगवान् का सगुण रूप पूर्ण हो जाता है। 'शील' तक आने का कैसा सुगम और मनोहर मार्ग बाबाजी ने तैयार किया है। सौंदर्य के प्रभाव से हृदय को वशीभूत करके शक्ति के अलौकिक प्रदर्शन से उसे चकित करते हुए अन्त में वे उसे 'शील' या 'धर्म' के रमणीय रूप की ओर आप से आप आकर्षित होने के लिये छोड़ देते हैं। जब इस शील के मनोहर रूप की ओर मनुष्य आकर्षित हो जाता है और अपनी वृत्तियों को उसके मेल में देखना चाहता है, तब जाकर वह भक्ति का अधिकारी होता है। जो केवल बाह्य सौंदर्य पर मुग्ध होकर और अपूर्व शक्ति पर चकित होकर ही रह गया, 'शील' की ओर आकर्षित होकर उसकी साधना में तत्पर न हुआ, वह भक्ति का अधिकारी न हुआ। इस अधिकार-प्राप्ति की उत्कंठा गोस्वामीजी ने कैसे स्पष्ट शब्दों में प्रकट की है, देखिए—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो?
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो॥

यथा लाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोख, कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता, दूख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥

शीलसाधना की इस उच्च भूमि में पाठक देख सकते हैं कि विरति या वैराग्य आप से आप मिला हुआ है। पर लोककर्तव्यों से विमुख करने वाला वैराग्य नहीं—परहित चिंतन से अलग करने वाला वैराग्य नहीं—अपनी पृथक प्रतीत होती हुई सत्ता को लोकसत्ता के भीतर लय कर देने वाला वैराग्य, अपनी 'देहजनित चिन्ता' से अलग करने वाला वैराग्य। भगवान् ने उत्तरकांड में सन्तों के सम्बन्ध में जो 'त्यागहिं करम सुभासुभदायक' कहा है, वह 'परहित' का विरोध नहीं है। वह गीता में उपदिष्ट निर्लिप्त कर्म का बोधक है। जब साधक भक्ति द्वारा अपनी व्यक्ति का लोक में लय कर चुका, जब फलासक्ति रह ही न गई, तब उसे कर्म स्पर्श कहाँ से करेंगे? उसने अपनी पृथक प्रतीत होती हुई सत्ता को लोकसत्ता में—भगवान् की व्यक्त सत्ता में—मिला दिया। भक्ति द्वारा अपनी व्यक्त सत्ता को भगवान् की व्यक्त सत्ता में मिलाना मनुष्य के लिये जितना सुगम है उतना ज्ञान द्वारा ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को मिलाना नहीं। संसार में रहकर इंद्रियार्थों का निषेध असंभव है, अतः मनुष्य को वह मार्ग ढूंढना चाहिए जिसमें इंद्रियार्थ अनर्थकारी न हों। यह भक्तिमार्ग है, जिसमें इंद्रियार्थ भी मंगलप्रद हो जाते हैं—

विषयिन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। स्रवनसुखद अरु मन अभिरामा॥

इस प्रकार अपनी व्यक्ति को लोक में लय करना राम में अपने को लय करना है क्योंकि यह जगत् 'सियाराममय' है। जब हम संसार के लिये वही करते हुए पाए जाते हैं जो वह अपने लिये कर रहा है—वह करते हुए नहीं जिसका लक्ष्य उसके लक्ष्य से अलग या विरुद्ध है—तब मानों हमने अपने अस्तित्व को जगत् को अर्पित कर दिया। ऐसे लोगों को ही जीवन्मुक्त कहना चाहिए।

'शील' और 'भक्ति' का नित्य संबंध गोस्वामीजी ने बड़ी भावुकता से

प्रकट किया है। वे राम से कहते हैं कि यदि मेरे ऐसे पतित से संभाषण करने में आपको संकोच हो, तो मन ही मन अपना लीजिए—

प्रन करिहौं हठि आजु तें रामद्वार पर्‌यो हौं।
'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि,
प्रभु की सौं करि निवर्‌यो हौं॥
प्रगट कहत जो सकुचिए अपराध भर्‌यो हौं।
तौ मन नें अपनाइए तुलसिहिं कृपा करि,
कलि बिलोकि हहर्‌यो हौं॥

फिर यह मालूम कैसे होगा कि आपने मुझे अपना लिया? गोस्वामीजी कहते हैं—

'तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
सुत की प्रीति, प्रतीत मीत की, नृप ज्यों डर हरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित॥
कलि कुचाल परिहरिहै॥'

जब कलि की सब कुचालें छूट जायँ, बुरे कर्मों से मुँह मुड़ जाए, तब समझूँ कि मुझे भक्ति प्राप्त हुई। जिस भक्ति से यह स्थिति प्राप्त न हो वह भगवद्-भक्ति नहीं, और किसी की भक्ति हो तो हो। गोस्वामीजी की 'श्रुति-सम्मत' हरिभक्ति वही है जिसका लक्षण शील है—

प्रीति राम सों, नीति पथ चलिय, राग रिसि जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप से आप करती है? सदाचार ज्ञान द्वारा प्रवर्तित हुआ है या भक्ति द्वारा, इसका पता यों लग सकता है कि ज्ञान द्वारा प्रवर्तित जो सदाचार होगा, उसका साधन बड़े कष्ट से—हृदय को पत्थर के नीचे दबाकर—किया जायगा, पर भक्ति द्वारा प्रवर्तित जो सदाचार होगा, उसका अनुष्ठान बड़े आनंद से, बड़ी उमंग के साथ, हृदय से होता हुआ दिखाई देगा। उसमें मन को मारना न होगा, उसे और सजीव करना होगा। कर्तव्य और शील का वही आचरण सच्चा है जो आनंदपूर्वक हर्षपुलक के साथ हो—

रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय।
तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु ते जग जीवन जाय ।।

शील द्वारा प्रवर्तित सदाचार सुगम भी होता है और स्थायी भी, क्योंकि इसका संबंध हृदय से होता है। इस शील दशा की प्राप्ति भक्ति द्वारा होती है। विवेकाश्रित सदाचार और भक्ति इन दोनों में किसका साधन सुगम है, इस प्रश्न को और साफ़ करके बाबाजी कहते हैं—

कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभुप्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि ।।

या तो तुझे राम प्रिय लगें या राम को तू प्रिय लग, इन दोनों में जो सीधा समझ पड़े सो कर। तुझे राम प्रिय लगें, इसके लिये तो इतना ही करना होगा कि तू राम के मनोहर रूप, गुण, शक्ति और शील को बारबार अपने अंतःकरण के सामने रखा कर, बस राम तुझे अच्छे लगने लगेंगे। शील को शक्ति और सौंदर्य के योग में यदि तू बारबार देखेगा तो शील की ओर भी क्रमशः आप से आप आकर्षित होगा। तू राम को प्रिय लगे, इसके लिये तुझे स्वयं उत्तम गुणों को धारण करना पड़ेगा और उत्तम कर्मों का संपादन करना पड़ेगा। पहला मार्ग कैसा सुगम है, जो दूर जाकर दूसरे मार्ग से मिल जाता है और दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। ज्ञान या विवेक द्वारा सदाचार की प्राप्ति वे स्पष्ट शब्दों में कठिन बतलाते हैं।

कहत कठिन, समुझत कठिन, साधत कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौ पुनि पत्यूह अनेक ।।

कोई आदमी कुटिल है, सरल कैसे हो ? गोस्वामीजी कहते हैं कि राम की सरलता के अनुभव से। राम के अभिषेक की तैयारी हो रही है। इस पर राम सोचते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन, सयन, केलि, लरिकाई ।।
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाई बड़ेहि अभिषेकू ।।

भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी याचना करते हैं कि राम का यह प्रेमपूर्वक पछताना भक्तों के मन की कुटिलता दूर करे—

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई ।।

राम की ओर प्रेम-दृष्टि पड़ते ही मनुष्य पापों से विमुख होने लगता है।

जो धर्म के स्वरूप पर मुग्ध हो जायगा, वह अधर्म की ओर फिर भरसक नहीं ताकने जायगा। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होई जीव मोहि जवहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

राम के शील के अंतर्गत 'शरणागत की रक्षा' को गोस्वामीजी ने बहुत प्रधानता दी है। यह वह गुण है जिसे देख पापी से पापी भी अपने उद्धार की आशा कर सकता है। ईसा ने भी पापियों को निराश होने से वचाया था। भक्तिमार्ग के लिये यह आशा परम आवश्यक है। इसी 'शरण प्राप्ति' की आशा बँधाने के लिए बावाजी ने कुछ ऐसे पद कहे हैं जिनसे लोग सदाचार की उपेक्षा समझते हैं, जैसे—

वंधु-वधू-रत कहि कियो वचन निरुत्तर वालि।
तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि॥

इसी प्रकार गणिका, अजामिल आदि का भी नाम वे वार-वार लाए हैं। पर उन्होंने भगवान् की भक्तवत्सलता दिखाने के लिये ऐसा किया है, यह दिखाने के लिये नहीं कि भक्ति और सदाचार से कोई संवंध ही नहीं है और पाप करता हुआ भी मनुष्य भक्त कहला सकता है। पापियों के उद्धार का मतलव पापियों का सुधार है—ऐसा सुधार जिससे लोक और परलोक दोनों बन सकते हैं। गोस्वामीजी द्वारा प्रतिपादित रामभक्ति का वह भाव है जिसका संचार होते ही अंतःकरण विना कष्ट के शुद्ध हो जाता है—सारा कल्मष, सारी मलीनता आप से आप छूटने लगती है। अंतःकरण की पूर्ण शुद्धि भक्ति के बिना नहीं हो सकती, अपना यह सिद्धांत उन्होंने कई जगह प्रकट किया है—

नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय संग लागे।
हृदय मलिन वासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे॥
पर निंदा सुनि स्रवन मलिन भए वदन दोष पर गाए।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥
तुलसीदास व्रत दान ग्यान तप सुद्धि हेतु स्तुति गावै।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥

जब तक भक्ति न हो तव तक सदाचार को गोसाइंजी स्थायी नहीं समझते।

मनुष्य के आचरण में शुद्ध ज्ञान द्वारा वह दृढ़ता नहीं आ सकती जो भक्ति द्वारा प्राप्त होती है—

कबहुँ जोग रत भोग निरत सठ हठ बियोग बस होई।
कबहुँ मोह बस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई।।
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़, पंडित बिडंबरत कबहुँ धरमरत ग्यानी।।
संजम जप तप नेम धरम व्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेम हीन नहिं जाई।।

इसी से उन्होंने भक्ति के विना शील आदि सब गुणों को निराधार और नीरस कहा है—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गुरुआई।।
बिनु हरिभजन इंदारुन के भल तजत नहीं करुआई।।
कीरति कुल करतूति भूति भलि, सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने।।

भक्ति की आनंदमयी प्रेरणा से शील की ऊँची से ऊँची अवस्था की प्राप्ति आप से आप हो जाती है और मनुष्य 'संत' पद को पहुँच जाता है। इस प्रेरणा में रूप, गुण, शील, बल, सबके प्रभाव का योग रहता है। इसी प्रकार के प्रभाव से—

भए सब साधु किरात किरातिनि, रामदरस मिटि गई कलुषाई।

• • •
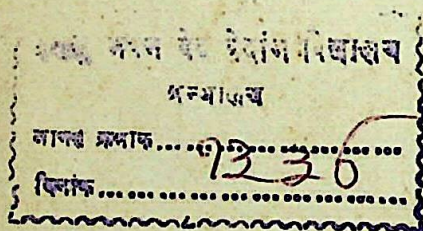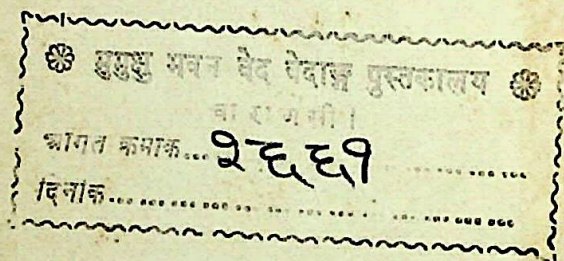
(पहले फ्लैप का शेष)

भक्ति काल के उक्त चारों प्रमुख स्तम्भों पर इन मूर्धन्य समालोचकों द्वारा लिखे हुए आलोचनात्मक प्रबन्धों के महत्त्वपूर्ण अंशों का यह संकलन विश्वविद्यालय स्तर की कक्षाओं के छात्रों के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका उद्देश्य एक ओर तो छात्रों को हिन्दी-गद्य की एक विशिष्ट शैली—आलोचनात्मक शैली—से परिचित कराना है और दूसरी ओर उनके समक्ष हिन्दी आलोचना के चूड़ान्त निदर्शन प्रस्तुत करना है। आशा है यह संकलन पाठकों में आलोचनात्मक दृष्टि का उन्मेष करेगा।

मूल्य ६.००